उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।

उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किये बिना विश्राम मत लो

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—१२ १९९३—मई अंक—५

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा' ॥

सम्पादक :

डॉ० केदारनाथ लाभ

सहायक सम्पादक

शिशिर कुमार मल्लिक

सम्पादकीय कार्यालय :

रामकृष्ण निलयम्

जयप्रकाश नगर,

छपरा—८४१३०१

(बिहार)

फोन। ०६१५२-४२६३९

सहयोग राशि

आजीवन सदस्य—	५०० रु०
वार्षिक—	३० रु०
रजिस्टर्ड डाक से—	४५ रु०
एक प्रति—	४ रु०

रचनाएं एवं सहयोग-राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

मनुष्य सोचता है कि हम ईश्वर को जान गये। एक चींटी चीनी के पहाड़ के पास गयी थी। एक दाना खाकर उसका पेट भर गया, एक दूसरा दाना मुँह में लिये अपने डेरे को जाने लगी, जाते समय सोच रही है कि अबकी बार आकर समूचे पहाड़ को ले जाऊँगी। क्षुद्र जीव यही सब सोचते हैं—ये नहीं जानते कि ब्रह्म वाक्य-मन के अतीत है।

(२)

मैं और मेरा—ये दोनों अज्ञान हैं। यह भाव कि मेरा घर है, मेरे रुपये हैं, मेरी विद्या है, मेरा यह सब ऐश्वर्य है—अज्ञान से पैदा होता है और यह भाव ज्ञान से कि हे ईश्वर, तुम कर्ता हो और ये सब तुम्हारी चीजें हैं—घर-परिवार, लड़के-बच्चे, स्वजनवर्ग, बन्धु-बान्धव—ये सब तुम्हारी वस्तुएँ हैं।

(३)

मृत्यु का सर्वदा स्मरण रखना चाहिए। मरने के बाद कुछ भी न रह जायगा। यहाँ कुछ कर्म करने के लिए आना हुआ है। जैसे कि देहात में घर है, परन्तु काम करने के लिए कलकत्ते आया जाता है। यदि कोई दर्शक बगीचा देखने को आता है तो धनी मनुष्यों के बगीचे का कर्मचारी कहता है—यह बगीचा हमारा है, यह तालाब हमारा है; परन्तु किसी कसूर पर जब वह नौकरी से अलग कर दिया जाता है, तब आम की लकड़ी के बने हुए सन्दूक को ले जाने का भी उसे अधिकार नहीं रह जाता, सन्दूक दरवान के हाथ भेज दिया जाता है।

श्रीरामकृष्णध्यानम्

हृदयकमलमध्ये राजितं निर्विकल्पं
सदसदखिलभेदातीतमेकस्वरूपम् ।
प्रकृतिविकृतिशून्यं नित्यमानन्द मूर्तिं
विमल परमहंसं रामकृष्णं भजामः ॥१॥

निरुपमतिसूक्ष्मं निष्प्रपञ्चं निरीहं
गगनसदृशमीशं सर्वभूताधिवासम् ।
त्रिगुणरहितसच्चिद्ब्रह्मरूपं वरेण्यं
विमलपरमहंसं रामकृष्णं भजामः ॥२॥

वितरितुमवतीर्णं ज्ञानभक्तिप्रशान्तीः
प्रणयगलितचित्तं जीवदुःखासहिष्णुम् ।
धृतसहजसमाधिं चिन्मयं कोमलाङ्गं
विमलपरमहंसं रामकृष्णं भजामः ॥३॥

× × ×

श्रीरामकृष्णप्रणामः

स्थापकाय च धर्मस्य सर्वधर्मस्वरूपिणे ।
अवतारवरिष्ठाय रामकृष्णाय ते नमः ॥

ईश्वर-दर्शन के उपाय

श्रीमत् स्वामी विरेश्वरानन्दजी महाराज
अनुवादक—श्री प्रियव्रत शर्मा, कलकत्ता

भगवान शंकराचार्य ने अपने वेदान्त सूत्र के भाष्य लिखते समय कुछ ऐसी बातें बतायी हैं, जिनमें आज तक न कोई परिवर्तन कर पाया है और न ही खण्डन। उन्होंने कहा, आत्मा और अनात्मा क्रमशः चेतन एवं जड़ हैं; दोनों परस्पर विरोधी हैं। एक के साथ दूसरे का कोई मेल नहीं। उनका विरोधी-स्वरूप कैसा है? 'तमः प्रकाशवद्'—प्रकाश एवं अंधकार, दिन एवं रात की भांति परस्पर-विरोधी स्वभाव वाले। अतः इन दोनों को हमलोग किसी भी प्रकार एक साथ नहीं रख सकते। तथापि महा माया की लीला कुछ ऐसी है कि इन दोनों परस्पर-विरोधी तत्वों को एक साथ मिलाकर हम देखते हैं। मिलाते कैसे हैं? 'मैं, इस घर में हूँ', 'मैं क्षत्रिय हूँ', 'मैं ब्राह्मण हूँ', 'मैं गोरा हूँ,' 'मैं काला हूँ', 'मैं दुःखी हूँ', 'मैं सुखी हूँ', 'यह मेरा परिवार है,' यह मेरा पुत्र है,' 'मेरे पति है,' 'मेरा मकान है,' 'मेरी जमींदारी है,' 'मेरा व्यवसाय है'—इन सब बातों को कहकर।

मैंने पहले ही कहा, 'मैं इस मकान में हूँ'—यह कैसे सम्भव हो सकता है? आत्मा सर्वव्यापी है, मैं इस मकान में हूँ, यहाँ बैठा हूँ, कैसे हो सकता है? देह और मन के विचार को एक साथ मिला कर कहता हूँ कि मैं यहाँ हूँ। देह जड़ वस्तु है और मैं चेतना है, इन दोनों को हम एक कर देते हैं। ठीक इसी प्रकार हम पुनः कहते हैं, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ। तदुपरांत मन के धर्म का आत्मा पर आरोप करते हैं, और कहने लगते हैं, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ। पुनः बाहरी विषयों का आत्मा पर आरोप करते हैं और कहते हैं—मेरा परिवार, मेरे पति, मेरा पुत्र आदि। ये दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं। फिर भी आपस में घुलमिल जाती हैं। कारण क्या है? अज्ञानता हैं, और यही माया है। यह अज्ञान अनादि काल से चला आ रहा है। इसीलिए हम दोनों को मिलाकर देखते हैं। इसका नाम चिद्-जड़ ग्रन्थि है। यह चेतन व जड़ की ग्रन्थि ही हमारे बंधन का कारण है। यदि इन दोनों को हम अलग-अलग कर दें तो देखेंगे कि चेतन का जड़ से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह ज्ञान यदि हमें प्राप्त हो जाय, तो हमें मुक्ति मिल जायेगी। जिन लोगों ने भगवान के दर्शन किये हैं, वे ही केवल इस चिद्-जड़ की ग्रन्थि से ऊपर उठ पाये हैं। उनका जड़ से सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। वे अनिश्चय के परे हो जाते हैं। उनका समस्त कर्मफल नाश हो जाता है एवं वे मुक्त हो जाते हैं।

उपनिषद् के ऋषि ने कहा है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्
आदित्य वर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥
(श्वेताश्वतर उपनिषद् (३/८)

—मैंने उस पुरुष को देखा है, जो आदित्य की तरह उज्ज्वल है—अंधकार एवं माया के उस पार। उन्हें न जानने पर इस संसार एवं मृत्यु के बंधन से मुक्त नहीं हुआ जा सकता। अतः भगवान

को प्राप्त करना ही एक मात्र उपाय है जिससे
इस दुःख व कष्ट से मुक्ति मिल सकती है व अनादि
अज्ञान को नष्ट किया जा सकता है। इसी अज्ञान
से हमारा ज्ञान आवृत या ढका रहता है। अत.
हम चेतना को देख नहीं पाते। यह अज्ञान क्या
है 'मैं-मेरा' का भ्रम है। ठाकुर (श्रीरामकृष्ण
परमहंस) कहते थे कि 'मैं तथा मेरा' की भावना
ही अज्ञान के लक्षण हैं और 'तुम तथा तुम्हारा'
की भावना ज्ञान के लक्षण। मैं एवं मेरे से स्वार्थ-
परता आती है। जो तुच्छ 'मैं' है मैंने उसे सन्तुष्ट
किया, 'मैंने' उन्हें भोगादि की सुविधा प्रदान
की—यही है स्वार्थपरता। (Unselfishness)
निःस्वार्थपरता ही भगवान की ओर जाने का
रास्ता है। यदि हम बिल्कुल निःस्वार्थ हो जायें तो
भगवान के दर्शन का लाभ मिल सकता है।
निःस्वार्थी होने पर हम प्रेम स्वरूप हो जाएँगे।
भगवान स्वयं प्रेम स्वरूप हैं। इसलिए हमें भगवान
के दर्शन होंगे।

अब यह अज्ञान—'मैं-मेरा'—इस भावना को
समाप्त करने के उपाय क्या हैं? हम व्रत रखते हैं
तीर्थ करते हैं, दान करते हैं। दान करना, तीर्थ
करना, मन्दिर जाना एवं अर्थ-दान देना, व्रत
रखना—ये समस्त कार्य साधारण हैं। शंकराचार्य
कह गये हैं, कि इन कार्यों से कुछ लाभ नहीं होता।
जबतक सही ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती, तब तक
मुक्ति नहीं मिल सकती। आज-कल यह एक
नियम बन गया है कि धर्म का अर्थ लोकाचार है।
यह एक भ्रांत धारणा है। इन लोकाचारों का
ब्राह्मणवर्ग का समर्थन भी प्राप्त है। इसे ही आजकल
हम धर्म मानते हैं। इन लोकाचारों को छोड़कर
दूसरी कोई बात मानने के लिए हम तैयार नहीं
होते। जो लोग इन लोकाचारों को नहीं मानते
उन्हें हम अधार्मिक करार देते हैं। हमारी बुद्धि
इतनी संकीर्ण हो गयी है कि हम लोग ही धर्म के
नाम पर लोकाचार की वकालत करते हैं।
हालांकि, जिन्हें हम अधार्मिक कहते हैं हो सकता
है वे ही सही ढंग से सत्य की खोज में लगे हों और
धर्म के ठीक रास्ते पर चल रहे हों। हमलोगों
का भाव यह है कि मैं जो करता हूँ, वही धर्म है,
इसके बाहर कोई धर्म हो ही नहीं सकता।

हमारी बुद्धि जब इस प्रकार की हो जाती है
तो भगवान प्रकट होते हैं। वे आकर हमें धर्म का
ठीक-ठीक ज्ञान कराते हैं। इस युग में ठीक ऐसा
ही हुआ। ठाकुर (श्रीरामकृष्ण परमहंस) आकर
हमें समझा गये कि धर्म क्या है। जीवन का उद्देश्य
ईश्वर-प्राप्ति है, और वही धर्म है। स्वामीजी ने
भी कहा है "Religion is realisation"—धर्म
अनुभूति का नाम है। आगे कहा है—सही धर्म
क्या है? बाहर की प्रकृति एवं अन्तर की प्रकृति
को दमन कर सुप्त ब्रह्म को व्यक्त करना ही धर्म
है। यही जीवन का उद्देश्य है। उसे हम कैसे
प्राप्त कर सकते हैं? किसी एक योग द्वारा—ज्ञान
कर्म, भक्ति एवं राजयोग। इनमें से किसी एक
योग द्वारा, नहीं तो एक को दूसरे के साथ मिला
कर नहीं तो सभी को एक साथ मिलाकर हम ब्रह्म
को—आत्मा को व्यक्त कर सकते हैं। जब आत्म
दर्शन होंगे, तभी हम मुक्त होंगे। यही धर्म है।
अतः मन्दिर, शास्त्र, पूजा-पाठ इत्यादि गौण है।
किन्तु गौण को ही हम अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं
और वास्तविक तथ्य को नकार देते हैं।

धर्म का प्रथम प्रमाण है—त्याग। जहाँ त्याग
नहीं है, वहाँ धर्म हो ही नहीं सकता। यदि वैराग्य
की भावना नहीं है तो संसार के समस्त भोग्य
विषयों के प्रति अनासक्ति नहीं आ सकती। इनसे
हमें शांति प्राप्त नहीं हो सकती। यह धारणा
यदि दृढ़ न हो तो धार्मिक जीवन के पथ पर
अग्रसर हो ही नहीं सकते। इन सांसारिक विषयों
में हम उलझे रहेंगे। किन्तु जीवन की परेशानियाँ
झेलने के बाद हम समझेंगे कि यह एक

धारणा है। तब अन्य रास्ते की खोज के लिए हम विवश होंगे। इस प्रकार जब हम मनन करेंगे तो पायेंगे कि जगत में सब कुछ मृत्यु के वशीभूत है एवं एक न एक दिन उन्हें ध्वंस होना है। अध्ययन करने पर पता चलता है जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि — ये ही संसार के धर्म हैं। बुद्धदेव ने भी ऐसा ही अनुभव किया था। वे बाहर जब घूमने निकले तो देखा कि मनुष्य मात्र ही जन्म-मृत्यु-व्याधि को भोग रहा है, और यही संसार का धर्म है। इससे मुक्ति पाने का उपाय खोजने के उद्देश्य से उन्होंने संसार त्याग दिया। भगवान श्रीकृष्ण ने भी इसी तथ्य को उजागर किया है, "जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि दुःख-दोषानुदर्शनम्"। अतः इस सांसारिक जीवन में तुम्हें शान्ति मिलेगी—ऐसा सम्भव नहीं। संसार की परेशानियाँ तो इसी प्रकार रहेंगी। यदि तुम्हें शांति की खोज करनी है तो मेरे पास आओ, मेरी आराधना करो, मेरी उपासना करो—यही गीता का सार है। इसीलिए एक या एक से अधिक योग के माध्यम से हमें आगे बढ़ना होगा।

चार योगों में ज्ञान योग की विवेचना करने पर हम पायेंगे—मैं देह नहीं हूँ, बुद्धि नहीं हूँ, अहंकार नहीं हूँ, यह सब नहीं हूँ। इस प्रकार विवेचना करते-करते मैं आत्मा को अलग कर लूगा और अंत में आत्मा के निकट पहुँचूँगा। और जब अपने ध्यान में मैं ठीक से प्रतिष्ठित हो जाऊँगा तब मुझे आत्म ज्ञान होगा।

ठीक इसी प्रकार कर्मयोग में अपने लिए कोई चिन्ता न कर यदि दूसरों के लिए कार्य करते जायँ और करते-करते अपनी चिन्ता भूल जायँ, केवल दूसरों की चिन्ता करें तो देखेंगे कि मैं जगत के साथ एक हो जाता है। तब 'मैं-मेरा' का ज्ञान बिल्कुल लोप हो जाता है और ईश्वर-दर्शन प्राप्त होते हैं।

भक्ति-मार्ग में भी भगवान की आराधना, चिन्तन व ध्यान करते करते यह अनुभव होने लगेगा कि मैं जो भी कुछ करता हूँ, भगवान के लिये करता हूँ—इस प्रकार भगवान के विषय एवं ध्यान में मैं इतना तन्मय हो जाऊँगा कि अपनी चिन्ता करना भूल जाऊँगा। तब ईश्वर-दर्शन होंगे।

फिर योग में भी यही बात है। जब अपने बारे में सोचना एवं चिन्ता करना छोड़ देंगे, केवल एक मात्र ईश्वर के बारे में सोचेंगे एवं उसके लिये अपने देह-मन को उसी रूप में ढाल लेंगे, तब हमारी सभी वृत्तियाँ नष्ट हो जायेंगी और केवल एक ही वृत्ति रह जायेगी, वह है ईश्वर की चाह जिसमें मन सदा रमा रहेगा। मन है एक निष्कम्प दीप शिखा की तरह—जहाँ हवा नहीं है वहाँ दीपशिखा एकदम नहीं हिलती, स्थिर रहती है। मन का स्वरूप भी ऐसा ही है। मन जब भगव-चिन्ता में उसी प्रकार एकाग्र हो जाएगा तो भगवान के दर्शन होंगे।

इस प्रकार किसी भी उपाय से हम यदि अपने अन्दर के तुच्छ 'मैं' को भूल जाएँ और महान 'मैं' को अपनाकर भगवान की ओर अग्रसर हों, व अन्त तक उसी में तन्मयता से लीन रहें तो ईश्वर-लाभ मिलेगा। हमलोग अधिकतर भक्ति मार्ग को चुनते हैं। जिनमें वैराग्य की भावना अधिक रहती है वे ही ज्ञानमार्ग की ओर बढ़ते हैं। योग का अभ्यास बड़ा ही कठिन है। किन्तु भक्ति मार्ग सरल है। ऐसे लोगों की संख्या अधिक है, जिन्हें संसार से भी आसक्ति है एवं भगवान के प्रति भक्ति भी है। इसीलिए अधिकांश लोगों के लिए उपाय के रूप में। ठाकुर ने बताया है, 'कलियुग में नारदीय भक्ति" हम भक्ति मार्ग का दो पहलुओं से विचार कर सकते हैं। भगवान अलग हैं; मैं अलग हूँ। मुझे ईश्वर-दर्शन की अभि-

लाता है। अंततः भगवान की ही कृपा से उनके अद्वैत रूप अथवा निराकार रूप के दर्शन हम प्राप्त कर सकते हैं। ठीक उसी प्रकार, जिस तरह ठाकुर ने पहले माँ काली के दर्शन प्राप्त किये, तत्पश्चात् माँ-काली की कृपा से निर्गुण ब्रह्म की उपलब्धि की। ठीक इसी तरीके से जब अपने इष्ट देवता के रूप में या अन्य किसी देवता के रूप में ईश्वर-लाभ प्राप्त करता है, तो उसे निर्गुण ब्रह्म तक पहुँचने में अधिक विलम्ब नहीं होता। ईश्वर की कृपा से ही पहले सगुण ब्रह्म के रूप में इष्ट देवता या जिसकी उपासना की जाती है, उसके दर्शन होते हैं, उसके बाद शीघ्र ही निर्गुण ब्रह्म की उपलब्धि होती है।

किन्तु प्रारम्भ में सगुण ब्रह्म या इष्ट देवता की उपलब्धि एक कठिन काम है। इसीलिए पहले बाहर की पूजा जप व उसके बाद ध्यान का क्रम आता है। यह बाहर की पूजा सबसे निचली सीढ़ी है। बाहर की पूजा से जब मन तैयार हो जाता है, तब जप करना पड़ता है। जप द्वारा ध्यान के लिए मन को तैयार करना पड़ता है, तब ध्यान करना पड़ता है। ध्यान ही सर्वश्रेष्ठ है। हमारे यहाँ जो लोग धार्मिक जीवन-यापन करते हैं वे बाहर की पूजा पर अधिक बल देते हैं और जप-ध्यान पर कम। सारा समय बाहर की पूजा में व्यतीत करते हैं। हम अपने पूजा-घर में जाते हैं। वहाँ अनेक देवता हैं। सभी को फूल चढ़ाते हैं, फल चढ़ाते हैं। समय बीत जाता है। उसके बाद जप करने का समय ही नहीं बचता। ध्यान की बात तो दूर रही। बहुत से लोग कहते हैं, हमलोगों का तो मन एकाग्र नहीं रहता। मन को कैसे स्थिर रखा जाय? जप और ध्यान नहीं करने पर मन स्थिर नहीं हो सकता। बहुतों की धारणा है कि दीक्षा लेने के एक-दो दिन बाद ही मन स्थिर हो जायेगा। किन्तु ऐसी बात नहीं है। श्री श्री माँ ने कहा है, "ऋषि-मुनियों को जो जन्म-जन्मांतर से प्राप्त न हो सका, उसे ठाकुर ने बड़े कष्ट से साधन-भजन करने के बाद ही प्राप्त किया है। किन्तु उसे तुम तुरन्त प्राप्त करना चाहते हो; यह कैसे सम्भव है?" उसके बाद उन्होंने कहा, 'हाँ ठाकुर ने आकर सहज रास्ता निकाल लिया है। अब थोड़ी-सी साधना की आवश्यकता है।" किन्तु यह थोड़ी-सी तो करनी ही होगी। अतः इतना भी हम न कर सकें, तो कैसे सम्भव हो सकता है? मैंने देखा है जो लोग जप करते हैं, सभी की बात मैं नहीं कह रहा, वे अधिकतर समय बाहर की पूजा में व्यतीत करते हैं; उसके बाद १०८ बार जप करके ही छुट्टी पा लेते हैं। उनकी धारणा है कि १०८ से अधिक बार जप करने का प्रयोजन ही नहीं है। जैसे इतना ही कर लेने पर सब कुछ हो जाऐगा। जप जितना ही अधिक किया जायेगा, उतना ही जल्दी हम ईश्वर की तरफ आगे बढ़ सकते हैं।

जप का अर्थ क्या है? ईश्वर की कोई विशेष मूर्त्ति या ईश्वर के रूप में अपने इष्ट देवता की मूर्त्ति के नाम अथवा मंत्र की पुनः पुनः आवृत्ति या उच्चारण करना ही जप है। मंत्र का अर्थ क्या है? जो हमारे मन को बाह्य जगत से खींच कर ईश्वर के पादपद्मों पर स्थिर रखता है, वही मंत्र है। बीज मंत्र उसे कहते हैं, जिस मंत्र के जपने से आंतरिक आध्यात्मिक शक्ति का उदय होता है और उस शक्ति के बल पर मनुष्य ईश्वर-दर्शन के निकट पहुँचता है। इसीलिए जप करना ही महत्वपूर्ण है। जप में बीजमंत्र की शक्ति निहित है, जो तुम्हारी आध्यात्मिक शक्ति को जगाने में सहायक है। जप न करने से उस शक्ति का उदय नहीं होगा। अतः केवल १०८ बार जप करने से हम आगे कैसे बढ़ सकते हैं? इसी लिए अधिक से अधिक बार जप करने को

आवश्यकता है। किन्तु बहुतों को सांसारिक कार्यों में व्यस्त रहने के कारण समयाभाव रहता है। उनके लिए कहा गया है कि वे हर समय मनही मन जप किया करें। अपने काज-कर्म करते समय भी मन ही मन जप करें।

अर्जुन को श्रीभगवान कहते हैं—

"तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध्य च।"

—हमेशा मेरा मनन करो और युद्ध करो। ये दोनों एक साथ होंगे। तुम्हारे स्मरण-मनन करने से युद्ध बन्द हो जायेगा—ऐसा नहीं हो सकता। तुम पाण्डवों की आशा हो। तुम्हारे दो मिनट मौन रहने से ही युद्ध किस ओर करवट लेगा, यह नहीं बताया जा सकता। अतः तुम्हें सतर्क रहना होगा। फिर भी तुम्हें मुझे नहीं भूलना होगा। तुम्हें दोनों चीजें एक साथ करनी होंगी। ठीक इसी प्रकार हम लोगों को भी संसार के क्रिया-कलापों के साथ-साथ भगवान का नाम भी लेना होगा। मन ही मन उनका स्मरण करना होगा। यदि ऐसा सम्भव हो, तो कम जप करने से भी उसकी पूर्ति हो जायेगी। अतः यह धारणा कि केवल १०८ बार जप करना काफी होगा—सही नहीं है। दीक्षा इसलिए नहीं ली जाती कि केवल १०८ बार जप करना होगा। तुम्हें हर समय जप करना होगा। माँ ने कहा है, "सभी आकर कहते हैं, कुछ नहीं हो रहा है, कुछ नहीं, हो रहा है। प्रति दिन दस-पन्द्रह हजार बार जप कीजिये; देखिये, क्यों नहीं होगा।" दस-पन्द्रह हजार बार न सही, उससे कुछ कम ही सही। किन्तु केवल १०८ बार जप करने से क्या होगा? इसलिये जप पर अधिक जोर देना होगा। जप करने के साथ-साथ ठाकुर का या अपने इष्ट देवता का मनन-चिन्तन करना होगा। यदि तुम्हारे जप का स्वरूप ठीक होगा, तो मन अपने आप ध्यान की ओर चला जायेगा। तुम इसका अनुमान भी नहीं लगा पाओगे कि कब तुम्हारा मन जप-तप से हटकर ध्यान की ओर चला गया।

इसके अलावा एक बात और है। हम कितना ही धार्मिक जीवन क्यों न बितायें, पर संसार के के प्रति मोह रहने पर इस ओर अधिक आगे नहीं बढ़ा जा सकता। ठाकुर ने जैसा कहा, है "अगर नाव को नदी के किनारे किसी पेड़ से बांध दें तो नाव को खेने से क्या लाभ? नाव वहीं की वहीं रह जायेगी अतः हमें भी वैराग्य का सहारा लेना पड़ेगा। वैराग्य लेने से पहले हमें सोचना होगा कि संसार में कुछ भी स्थायी नहीं है, सब नश्वर है। अतः जो सर्वदा विद्यमान है, उसी ईश्वर को प्राप्त करना हमारा लक्ष्य होना चाहिए। मन में जब यह भावना उत्पन्न होगी, तभी हमारे धार्मिक जीवन को लाभ मिलेगा।

"इस शरीर को 'मैं' जानना—यह अहंभाव—दुर्बलता का रूपान्तर है। जब "मैं आत्मा हूँ" इसी भाव पर मन स्थिर होगा, तब तुम पाप और पुण्य, धर्म और अधर्म के पार पहुँच जाओगे। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, 'मैं के नाश में ही दुःख का अन्त है।"

—स्वामी विवेकानन्द

विवेकानंद—मानव से महामानव तक

गोविन्द सिंह

[श्रीसत्येन्द्र नाथ मजूमदार की किताब 'विवेकानंद चरित', रोमा रोलां की 'द लाइफ ऑफ विवेकानंद', गौतम सेन की 'द माइंड आफ विवेकानंद' और 'विवेकानंद साहित्य संचयन' के आधार पर ।]

उन्नीसवीं शताब्दी ने जो महामानव हमें दिये, स्वामी विवेकानंद उनमें से एक थे, शताब्दियों की गुलामी से आहत और धर्म के नाम पर रूढ़ियों व कुसंस्कारों के जाल में भक्ति, और मुक्ति का रास्ता दिखाने का काम विवेकानंद ने किया। उन्होंने भारत के बारे में दुनिया की आँखें खोलीं। अध्यात्म की दुनिया में वे आधुनिक युग के शलाकापुरुष थे।

आज से १२९ साल पहले १२ जनवरी, १८६३ को जब उत्तरी कलकत्ता के सिमला मोहल्ले में वकील विश्वनाथ दत्त के घर में बालक नरेन्द्रनाथ ने जन्म लिया, तो किसे पता था कि एक दिन यह बालक दुनिया के सामने खड़ा होकर अध्यात्म का नया मंत्र फूंकेगा। रूढ़ियों में जकड़े देशवासियों को कर्म हेतु झकझोरेगा। मां भुवनेश्वरी ने वर्षों तक शिव की आराधना के बाद जिस बालक को जन्म दिया, वह आगे चलकर देश का आध्यात्मिक गुरु बना। बचपन का नरेंद्रनाथ विश्वविख्यात विवेकानंद हुआ।

सिमला के दत्त परिवार की समृद्धि के चर्चे एक जमाने में कलकत्ता के घर-घर में होते थे। परदादा के जमाने से ही इस परिवार में नामी वकील हुए। फिर भी गौरतलब है कि विवेकानंद के दादा दुर्गाचरण दत्त अपनी चली-चलायी वकालत छोड़ २५ साल की जवानी में युवा पत्नी व शिशु बेटे को त्यागकर साधु बन गये थे। पिता विश्वनाथ दत्त जहाँ कर्मठ गृहस्थ थे, वहीं धर्म व अध्यात्म की भी उन्हें अच्छी जानकारी थीं। हां, मां भुवनेश्वरी कट्टर व स्वाभिमानी धार्मिक स्त्री थी। विवेकानंद के जीवनीकार सत्येद्रनाथ मजूमदार कहते हैं, 'नरेन्द्रनाथ के चरित्र में जो कुछ भी महान था, उसका सबसे बड़ा कारण उनको मां भुवनेश्वरी देवी थीं। नारी की कोमलता के साथ उनके चरित्र में एक ऐसी दृढ़ता थी, जो अन्याय, असत्य और असुविचार के विरुद्ध सदा हर्ष के साथ सिर ऊंचा कर खड़ी हो जाती थीं। स्वामी विवेकानन्द के देह त्याग के बाद भी वह नौ वर्ष तक जीवित रहीं। उन्होंने अपने प्यारे पुत्र नरेंद्र नाथ को विश्वविख्यात विवेकानन्द बनते देखा था'।

५ वर्ष में नरेन्द्रनाथ की पढ़ाई शुरू हुई। बचपन में वह बड़े ही नटखट व उद्दंड थे, गुरुजी के पीटने पर वे अड़ जाते और निराश होकर गुरुजी को ही झुकना पड़ता। प्राथमिक शिक्षा के बाद वे मेट्रोपॉलिटन इंस्टीट्यूशन में भर्ती हुए। बलिष्ठ शरीर व मुक्केबाजी में निपुण होने से बड़े-बड़े लड़के उनसे डरते थे। १७ वर्ष की उम्र में उन्होंने एंट्रेंस पास की। वे जनरल असेंबली इंस्टीट्यूशन में एफ०ए० में दाखिल हुए। वे कालेज के पढ़ाकू छात्र न थे, लेकिन उनकी कुशाग्र बुद्धि का कोई मुकाबला न था। उन्होंने तभी मिल, ह्यूम, हर्बर्ट, स्पेंसर आदि पाश्चात्य विद्वानों के ग्रंथ पढ़ लिये

थे। दर्शन व अध्यात्म शास्त्रों में उनका गहरा मन लगता था। एक बार कालेज के अध्यक्ष विलियम हेस्टी ने एक सभा में ही कहा, 'यह दर्शन का अच्छा छात्र है। पूरे अंगरेज और जर्मन विश्वविद्यालयों में उसके जैसा [illegible] छात्र नहीं है।

डेकार्ट का अहंवाद, ह्यूम तथा बेन की नास्तिकता डार्विन के विकासवाद व स्पेंसर के अज्ञेयवाद का चिंतन, मनन करते हुए नरेन्द्रनाथ सत्य की प्राप्ति के लिए छटपटा उठे। जीवन व जगत की तमाम विरूपताओं के प्रति उनकी उत्कट जिज्ञासा तभी से नजर आने लगी थी। वे ब्रह्म समाज के सदस्य बने, लेकिन उनकी जिज्ञासा का शमन वहां भी न हुआ।

गायन व ध्यान में बचपन से ही उनका मन रमता था। सो एक दिन (नवंबर १८८१ में) पड़ोस के सुरेन्द्रनाथ मित्र के घर से भजन का बुलावा आया। वहां रामकृष्ण देव पधारे थे। उनके गायन से रामकृष्णदेव बेहद प्रभावित हुए और जाते वक्त दक्षिणेश्वर आने का निमंत्रण दे गये। १९वीं शताब्दी की महान गुरु-शिष्य जोड़ी की यह पहली मुलाकात थी।

एफ.ए. की परीक्षा के बाद एक दिन नरेन्द्रनाथ दक्षिणेश्वर गये। रामकृष्ण ने कहा, 'तू इतने दिन तक मुझे भूलकर कैसे रहा? कब से मैं तेरे आने की बाट जोह रहा हूं—'रामकृष्ण की आंखों से आंसू बहने लगे। 'मैं जानता हूं तुम सप्तर्षि मंडल के ऋषि हो, नर रूपी नारायण हो, जीवों के कल्याण की कामना से तुमने देह धारण की है।' नरेन्द्रनाथ को कुछ समझ न आया। वे उसके बाद भी यदाकदा दक्षिणेश्वर जाते रहे। ईश्वर के बारे में उनका अंतर्मन्थन चलता रहा। पहुंचे हुए संतों, दार्शनिकों से वे अक्सर कहा करते, 'आपने ईश्वर के दर्शन किये हैं?'

कई बार उनका श्रीरामकृष्ण से वैचारिक मतभेद भी हुआ। फिर भी वे श्रीरामकृष्ण से जुड़े रहे। गुरुदेव श्रीरामकृष्ण की ही कृपा से एक दिन उन्हें जगदंबा के दर्शन हुए। अध्यात्म जगत में पूरी तरह से रम जाने के बावजूद उन्होंने सांसारिकता एकदम नहीं त्यागी, कुछ दिनों अटॉर्नी आफिस में काम करके तथा कुछ पुस्तकों का अनुवाद करके जीविका चलाने लगे। बाद में स्थायी तौर पर विद्यासागर महाशय के स्कूल में अध्यापन कार्य करने लगे। लेकिन १८८५ तक नरेन्द्रनाथ श्रीरामकृष्ण के काफी निकट आ गये और १८८५ में ही उन्होंने संन्यास भी ले लिया। श्रीरामकृष्ण की ही प्रेरणा से नरेन्द्रनाथ ने अपने लक्ष्य को व्यष्टि से समष्टि की ओर मोड़ा। १५ अगस्त १८८६ को श्रीरामकृष्ण का निधन हो गया। मृत्यु से कुछ दिन पहले उन्हें गुरु ने कहा था, 'बेटा, आज तुझे सर्वस्व देकर मैं फकीर बन रहा हूं।'

गुरुदेव की मृत्यु के बाद उन्होंने श्रीरामकृष्ण के समस्त भक्तों को इकट्ठा किया और वराहनगर में रामकृष्ण संघ की स्थापना की। १८८८ में परिव्राजक बनकर तीर्थाटन को निकल पड़े। इस बीच उन्होंने देश में धर्म के अधःपतन को भी करीब से देखा। १८९३ तक वे देशभर में घूमते रहे। जहां-जहां वे गये वहीं शिष्यों का समां बंधता गया। धर्म के प्रति एक नयी चेतना प्रसारित होती गयी। १८९३ में जहाज से वे शिकागो के लिए रवाना हुए। देश-देश से होते हुए वे शिकागो पहुंचे, लेकिन कुछ तकनीकी कारणों से उन्हें धर्म महा-सम्मेलन में हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में शामिल होने की अनुमति न मिली। जेब में ज्यादा पैसे भी न थे। वे बोस्टन के लिए रवाना हुए। रास्ते में एक वृद्धा स्त्री से उनकी भेंट हुई, जो उन्हें अपने घर ले गयी। कुछ दिन बाद उनकी मुलाकात एक प्रोफेसर से हुई। प्रोफेसर

उनसे अत्यधिक प्रभावित हुए। उन्होंने धर्म महासभा के एक संचालक को लिखा, मेरा विश्वास है कि यह अज्ञात हिन्दू संन्यासी हमारे सभी पंडितों को मिलाकर जो हो सकता है, उससे भी अधिक विद्वान है।' वापस शिकागो पहुँच कर उन्हें एक बर्फीली रात रेलवे के पैकिंग बक्से में काटनी पड़ी। तमाम परेशानियों के बाद उन्हें धर्म महासभा में सम्मिलित कर लिया गया।

भारत से और लोग भी इसमें आये थे—प्रताप चंद्र मजूमदार, नगरकर, वीरचंद्र गांधी, एनी बेसेंट व चक्रवर्ती। और लोग अपना भाषण लिखकर ले गये थे। लेकिन ये कुछ तैयारी नहीं कर पाये थे। ये कहते हैं, 'मैं मूर्ख—मैंने कुछ भी तैयार नहीं किया था, खैर देवी सरस्वती को प्रणाम कर मैं उठा। मैंने छोटा सा भाषण दिया। हां, मुझे इतना याद है कि जब मैंने उपस्थितों को 'अमेरिका निवासी बहनों व भाइयों कहकर संबोधित किया, उस समय २ मिनट तक लगातार ऐसी करतल ध्वनि हुई कि मानो कान ही बधिर होने लगे।, उसके बाद मैंने भाषण आरंभ किया। जब मेरा भाषण समाप्त हुआ, उस समय हृदय के आवेग से संपूर्ण शांत हो मैं बैठ गया। दूसरे दिन समाचार-पत्रों में मेरे भाषण का वृतांत छपा। उसके बाद पूरा अमेरिका मुझे जान गया।' यह ११ सितम्बर, १८९३ की बात थी। उसके बाद १९,२२,२५ व २८ सितम्बर को उन्होंने भाषण दिये, उसके बाद देश भर में उनके सम्मान की लहर दौड़ पड़ी। देशभ्रमण के बाद १८९८ में उन्होंने बेलूड़ मठ की स्थापना की।

१८९९ में वे कोलम्बो होते हुए फिर न्यूयार्क गये। पूर्व और पश्चिम के अद्भुत समन्वय के ही कारण दुनिया ने उन्हें आंखों पर बिठा लिया। डॉ० बेंजामिन के मिलस का कहना था, 'वास्तव में स्वामीजी ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्ति हैं कि उनके सम्मुख हमारे विश्वविद्यालय के बड़े-से-बड़े अध्यापकगण भी बच्चे लगते हैं।' १९०० में वे अमेरिका से ही पेरिस गये और बाद में स्वदेश लौटकर स्थान-स्थान पर रामकृष्ण आश्रम के मठों की स्थापना की। ४ जुलाई, १९०२ को रात के करीब ९ बजे इस महामानव ने हमसे सदा के लिए विदाई ली।

भगिनी क्रिश्चियन के शब्दों में 'धन्य है वह देश, जिसने उनको जन्म दिया, धन्य हैं वे मनुष्य जो उस समय इस पृथ्वी पर जीवित थे, और धन्य हैं वे कुछ लोग—धन्य, धन्य, धन्य—जिन्हें उनके पदपद्मों में बैठने का सौभाग्य मिला था।'

कितने कितने नाम

स्वामी विवेकानन्द के नामों की भी बड़ी अजब महिमा है। पैदा होते ही जब लोगों ने देखा कि बालक अपने संन्यासी दादाजी के समान है तो उनका नाम दुर्गादास रखा गया। माँ ने भगवान वीरेश्वर के नाम पर वीरेश्वर रखना उचित समझा, और वे उसे बिले कहकर पुकारती थीं। अन्नप्राशन के समय उनका नाम नरेन्द्रनाथ दत्त रखा गया। श्रीरामकृष्ण परमहंस उन्हें नरेन कहा करते थे। वैसे उन्होंने नरेन की आँखों से प्रभावित होकर उन्हें कमलाक्ष नाम दिया था। पहले भारत-भ्रमण के दौरान उनके कई नाम थे—विविदिशानन्द, सच्चिदानन्द आदि।

जब वे पहली बार अमेरिका गये, तब भी उनके पास कर्नल ऑल्काट (थियोसोफिकल सोसायटी, मद्रास) का दिया, जो परिचय-पत्र था, उसमें उनका नाम सच्चिदानन्द ही था। लेकिन इसी समय खेतड़ी के महाराज राज बहादुर के सुझाव पर उन्होंने अपना नाम विवेकानन्द रख लिया—नीर-क्षीर विवेक की क्षमता रखनेवाला। इसके बाद वही नाम विश्वविख्यात हो गया। वे चाहते भी तो इस नाम को बदल नहीं सकते थे।

स्वामी विवेकानन्द की भारत परिक्रमा एवं धर्म महासम्मेलन की तैयारी

स्वामी विमलात्मानन्द
अनुवादक · ब्रह्मचारी गौरी शंकर
बेलुड़मठ

बम्बई भारत वर्ष की सम्पदा का प्राण केन्द्र है। यहाँ यत्र-तत्र बिखरी सुन्दर अट्टालिकाएँ एवं छोटे-बड़े भवन बड़े आकर्षक लगते हैं। उनके मध्य समुन्नत वृक्ष, पास ही सुदीर्घ समुद्र-तट एवं अरब सागर का नीला जलोच्छ्वास है। यहाँ के जलपोत सदा व्यस्त रहते हैं। विभिन्न देशों के भिन्न-भिन्न श्रेणियों के लोगों का यहाँ आना-जाना सदा लगा ही रहता है।

कराची से एक जहाज बम्बई बन्दरगाह आया। जहाज से दो यात्री, तरुण संन्यासी, धीरतापूर्वक उतरे। दोनों सुन्दर, कान्तिमान एवं वैराग्य मंडित गठन से सुशोभित थे। दोनों तपस्या के प्रभाव से समुज्वल, साधना के तेज से प्रभावित, अन्तर्लोक की अन्तर्ज्योति से आलोकित एवं आत्मभाव से परिपूर्ण थे। उपस्थित यात्रियों में अधिकांश की दृष्टि उन्हीं दोनों युवा संन्यासियों की ओर टिकी था। दोनों ने निश्चिन्त भाव से चलना आरम्भ किया। एक संन्यासी अस्वस्थ एवं क्लान्त दीखता था। अचानक उनकी मुलाकात एक दूसरे तरुण संन्यासी से हुई। यह सशक्त संन्यासी राजोचित काया वाला था। उसकी आँखें कमल के समान सुन्दर थीं। वह ब्रह्मज्योति से दीपित एवं उच्चकोटी का एक ऋषि दिखता था। उसका मुखमंडल तपस्यालब्ध परिव्राजक जीवन के तेज को प्रकट करता था। साक्षात्कार होते ही उनलोगों ने एक दूसरे को बाहुपाश में बांध लिया। वे परम आनन्द से आनन्दित हुए। आनन्दाश्रु से उनके कपोल आर्द्र हो गये। करीब तीन वर्षों के बाद उनलोगों की भेंट हुई थी। वे तीनों एक ही गुरु के शिष्य थे। दीर्घ अनुपस्थिति के बाद मिलन का यह आनन्द स्वाभाविक ही था। आपस की कई बातें, कई वार्ताओं एवं अनुभवों का आदान-प्रदान आरम्भ हो गया। बहुत समय तक यह चलता रहा। हठात् मिले हुए संन्यासी का नाम स्वामी विवेकानन्द एवं अन्य दो संन्यासी थे—स्वामी ब्रह्मानन्द एवं स्वामी तुरीयानन्द। यह १८९३ ई० के आरम्भ की वात है। ये सभी श्रीरामकृष्ण परमहंस के शिष्य थे।

उस समय परिव्राजक स्वामी विवेकानन्द भारत में एक अख्यात्, अज्ञात् एवं अपरिचित संन्यासी थे। वे मात्र कुछ राजाओं एवं मुट्ठीभर अनुरागी शिष्यों के परिचित थे। भारत परिक्रमा के समय स्वामीजी के साथ थे—श्रीरामकृष्णदेव का एक चित्र, गीता एवं 'इमिटेशन् ऑफ क्राइस्ट' (ईसा-नुसरण) की एक एक प्रति। भूख एवं अनिश्चयता उनकी चिर संगिनी थीं। वे धनहीन थे। किन्तु स्वामीजी का चित्त सदा ही ईश्वर-विश्वास एवं भारतवर्ष के प्रति असीम प्रेम से परिपूर्ण था।

बम्बई में स्वामीजी एक मराठी पंडित के घर थे। बाद में तीनों गुरुभाई श्रीरामकृष्ण के एक गृहीशिष्य कालीपद घोष (दानाकाली नाम से भक्तों के बीच परिचित) के घर ठहरे। यहाँ स्वामीजी का दर्शन कर स्वामी तुरीयानन्द को एक

अभूतपूर्व अनुभूति हुई थी। उन्होंने कहा, अमेरिका यात्रा के पूर्व (बम्बई में) स्वामीजी का तेजपूर्ण मुख मंडल देखकर यह लगा था कि उन्होंने साधना पूरी कर ली है एवं जगत् के सामने गुरुवाणी के प्रचार के लिए जा रहे है।[1] अन्य समय स्वामीजी के एक गुरुभ्राता, स्वामी अभेदानन्द, का दैवयोग से उनके साथ साक्षात्कार हुआ था। उन्हें भी स्वामीजी का दर्शन कर एक अविस्मरणीय उपलब्धि हुई थी। उन्होंने बतलाया था, "उस समय स्वामीजी के हृदय में मानो एक अग्निकुण्ड की ज्वाला धधक रही थी। अन्य कोई चिन्ता नहीं, केवल यही कि कैसे प्राचीन आध्यात्मिकता पुनः प्रतिष्ठापित हो। दिन-रात इसी की चिन्ता करते। उस समय स्वामीजी एक प्रचण्ड झंझावात की तरह लगते थे।"[2]

बम्बई में स्वामीजी ने अपनी गम्भीर अन्तर्नुभूति को स्वामी तुरीयानन्द के सामने प्रकाशित किया था। उन्होंने कहा था: "हरिभाई, इतनी तपस्यादि की फिर भी धर्मादि तो कुछ समझ नहीं सका। फिर भी देखता हूं, भारत भ्रमण करने से हमारा हृदय खूब बड़ा हो गया है। देश के दीन दुःखी लोगों के लिए मेरी आत्मा रो रही है। सभी के लिए बहुत संवेदना का अनुभव किया है। इसीसे अमेरिका जा रहा हूं। देखता हूं, मैं इनलोगों के लिए वहां क्या कर सकता हूं।[3]

स्वामीजी के आवेगपूर्ण कण्ठ से जब उपर्युक्त तथ्य निःसृत हो रहा था तब उनके दोनों नेत्रों से अश्रुधारा बह रही थी। तुरीयानन्दजी भी विचलित एवं विह्वल हो गये। उनके भी नेत्र आर्द्र हो गये। उन्हें यह लगा था, "क्या बुद्ध ने भी ऐसा ही अनुभव नहीं किया था, क्या उन्होंने भी इस तरह की बातें नहीं कही थीं?··· ...उस समय मैंने ठीक ठीक देखा था कि जगत् के दुःख से स्वामीजी का हृदय टूक-टूक हो गया था। उनका हृदय एक विराट कड़ाह की तरह था, जिसमें संसार के दुःखों को मथ कर एक उपचारक मलहम तैयार हो रहा था।[4]

उसी समय स्वामीजी ने एक और विस्मयपूर्ण बात स्वामी तुरीयानन्दजी से कही थी: हरिभाई अमेरिका जा रहा हूं, वहा जो कुछ हो रहा है तुम सुन रहे हो, सब इसी के लिए (अपना सीना ठोक कर) इसी के लिए ही सब हो रहा है। बाद में इतिहास ने इसे प्रमाणित कर दिया कि स्वामीजी की बातें अक्षरशः सत्य थीं।

दीर्घ समय तक भारत परिक्रमा के कारण स्वामीजी ने भारतीय आत्मा का गंभीर परिचय प्राप्त किया था। दीनतम भारतवासियों के आर्थिक एवं सामाजिक जीवन का अपनी आंखों से अवलोकन कर ज्ञान प्राप्त किया था। भारत की प्रधानतम् समस्या दरिद्रता, अशिक्षा एवं अस्पृश्यता से ग्रस्त जन समुदाय का जीवन दर्शन कर स्वामीजी ने पाश्चात्य के लिए प्रस्थान किया था। इस प्रकार उन्होंने अपनी दिव्य दृष्टि से यह स्पष्ट देखा था कि भारत की अवनति का कारण धर्म नहीं है बल्कि युग-युग से धर्म ने ही भारत के सांस्कृतिक गठन एवं पुनर्स्थापना का कार्य किया है। भारत को इसने एकता के सूत्र में पिरोया है। दरिद्रता भारतवासियों के धर्म और भगवत्-विश्वास को कभी भी प्रभावित नहीं कर सकती। स्वामीजी के अन्तर्चक्षुओं में यह उद्भासित हुआ था—धर्म का आश्रय कर भारत पुनः जगत में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करेगा। परवर्ती समय में उन्होंने पाश्चात्य लोगों के सामने यह बात गर्व से कही थी। स्वामीजी के हृदय में भारतीय सनातन सत्य की चिरन्तन वाणी झंकृत हुई थी, जो वेदों, उपनिषदों, गीता, रामायण महाभारत एवं अन्यान्य शास्त्रों एवं ग्रन्थों में उद्भासित है। युग-युग से साधारण मानव की

अज्ञानता से लाभ उठाकर इस देश में उच्च वर्ग एवं पुरोहित समुदाय उन्हें शोषित करते रहे हैं। उनकी निष्ठुरता एवं उत्पीड़न से सिहरित स्वामीजी ने यह समझा था कि भारत के सनातन ज्ञान के भंडार को उन अज्ञ सामान्य जनों तक पहुँचा देना होगा। किन्तु क्षुधित एवं दुर्बल शरीर में धर्म-दर्शन का गंभीर तथ्य धारण नहीं हो सकता। अतः प्रथमतः उन्हें अन्न देना होगा। देश के सर्वसाधारण लोगों के जीवन स्तर को ऊँचा करने के लिए पश्चिम के उन्नत विज्ञान एवं तकनीक की सहायता लेनी होगी। इसी कारण उन्होंने भारत के परिक्रमा—काल में ही पाश्चात्य यात्रा का विचार किया था। उनके मन में हुआ था, उन्हें अमेरिका की धर्म महासभा में पाश्चात्य लोगों के सामने भारत के वक्तव्य को रखने का सुअवसर प्राप्त होगा। फिर भी वे भिक्षुक के भेष में उनलोगों के सामने खड़े नहीं होंगे, वे अपने साथ भारतीय चिरन्तन अध्यात्म सम्पदा को साथ ले जाएँगें।

इसी के आस-पास, भारत परिक्रमा—काल के समय, स्वामीजी के हृदय में एक 'दैवी प्रेरणा' ने कार्य किया था, जिसका अनुभव भी उन्होंने किया था। यही नहीं, कई पंडित एवं अनुभवी विद्वानों ने भी स्वामीजी के अन्दर विशेष शक्ति का आभास पाया था। गाजीपुर के जिला जज (उत्तर प्रदेश) पेनिंटन साहब ने स्वामीजी के मुख से हिन्दू धर्म की व्याख्या सुन कर उनसे अनुरोध किया था कि स्वामीजी प्रचार के लिए लन्दन जाएँ।[6] जूना गढ़ (गुजरात) के दीवान के मैनेजर सी० एच० पाण्डु को स्वामीजी के शिल्प-विज्ञान के गंभीर ज्ञान, उदार मन एवं प्राण स्पर्शी वाग्मिता ने मुग्ध किया था। उनके समीप स्वामी जी ने अपनी विदेश यात्रा की अस्पष्ट इच्छा आभास रूप में व्यक्त की थी (नवम्बर १८९०)[7]। इसी समय पोरबन्दर के दीवान एक प्रख्यात वेद विद् शंकर पाण्डुरंगा अभिभूत हुए थे स्वामीजी की मेधा, उदारता एवं मौलिक चिन्तन धारा से परिचय पाकर। उन्होंने स्वामी से कहा था: 'मेरे मन में होता है, आप इस देश में कुछ विशेष काम नहीं कर सकते हैं। आपको पश्चिम के देशों में जाना उचित है; वहाँ के लोग आपकी भावराशि एवं व्यक्तित्व की स्वाभाविक मर्यादा को समझ सकते हैं। सनातन धर्म का प्रचार कर आप निश्चय ही पाश्चात्य संस्कृति के यात्रा-पथ पर प्रचुर आलोक प्रदान कर सकते हैं।[8]

सन् १८९२ ई० के आस-पास शिकागो धर्म महासभा की तैयारी के बारे में विस्तृत समाचार भारत के विभिन्न समाचार पत्रों में प्रकाशित हुआ था।' स्वामीजी ने भी उसे निश्चित ही सुना था। धर्म महासभा में योगदान करने की आकांक्षा स्वामीजी के हृदय में अंकुरित हुई थी, जो वर्धित होकर आत्म-प्रकाशित हुई थी खण्डवा में (जुलाई १८९२)। खण्डवा के वकील हरिदास चट्टोपाध्याय को स्वामीजी ने अपना विचार सर्व प्रथम बतलाया था। कोई यदि मेरे यातायात का खर्च दे तो सब ठीक हो जायगा एवं मैं जाने के लिए प्रस्तुत हूँ।[10] बेलगांव में स्वामीजी ने अपने शिष्य हरिपद मित्र से एक दिन कहा था (अक्टूबर, १८९२) तुम्हारे साथ कुछ दिन मुझे जंगल में तम्बू लगाकर ठहरने की इच्छा है। किन्तु शिकागो में धर्म महासभा होगी तो वहाँ जाऊँगा।[11] मैसूर (नवम्बर १८९२) के महाराजा चामराजेन्द्र उदीयार एवं उनके दीवान सर शेषाद्रि अय्यर को स्वामीजी ने अपने अभिप्राय के सम्बन्ध में सुस्पष्ट बतलाया था। 'हालाकि भारत का विशेषत्व दर्शन और धर्म में है फिर भी इस युग के प्रयोजन के अनुरूप भारत को पाश्चात्य विज्ञान अर्जित करने के लिए एवं सामूहिक सामाजिक संस्कार के लिए सतत तत्पर

रहना होगा। आज भारत को इस विनिमय में विश्वमानव के कल्याण के लिए अपनी सम्पति का बँटवारा करना पड़ेगा। इसी समय स्वामीजी ने बतलाया था कि उपयुक्त अवसर मिलने पर वे स्वयं अमेरिका जाकर वेदान्त प्रचार करने के लिए प्रस्तुत हैं।[12] इसी प्रकार का मनोभाव उन्होंने त्रिवेन्द्रम में सुन्दरराम अय्यर के सामने भी व्यक्त किया था (दिसम्बर, १८९२)।[13] रामनाद के राजा भास्कर सेतुपति ने भी स्वामीजी को बारम्बार धर्म महासभा में योगदान करने के लिए अनुरोध किया था। यह सर्वविदित है कि कन्याकुमारी में स्वामीजी ने अमेरिका यात्रा का निर्देश पाया था और आलासिंगा पेरुमल इत्यादि मद्रासी भक्तों द्वारा इस कार्य के लिए विशेष उत्साह दिखाया गया था। पुनः हैदराबाद में (१३ फरवरी १८९३)[14] पंडित रतनलाल के सभापतित्व में महबूब महाविद्यालय में प्रायः एक हजार श्रोताओं के सामने, जिसमें कई यूरोपियन लोग भी थे, स्वामीजी ने प्रांजल अंग्रेजी में व्याख्यान किया था—"पाश्चात्य गमन का मेरा उद्देश्य"।[15] हालाकि भारत परिक्रमा के समय स्वामीजी के मन में अमेरिका की धर्म महासभा में योगदान करने की आकांक्षा बीजाकार रूप में ही उत्थित हुई थी, तथापि उसीने भारत परिक्रमा के अन्त में वास्तविक रूप धारण किया था।

संदर्भ सूची

(१) स्वामी तुरीयानन्द—स्वामी जगदीश्वरानन्द, उद्बोधन, कलकत्ता, १९८६ पृ० २९

(२) युग नायक विवेकानन्द—स्वामी गम्भीरानन्द, प्रथम् खण्ड, प्रथम् संस्करण १९७३, पृ०-३५६.

(३) स्वामी तुरीयानन्द, पृ० २८-२९.

(४) युगनायक विवेकानन्द, प्रथम खण्ड, पृ.-४१८

(५) स्वामी तुरीयानन्द, पृ.—२८-२९.

(६) युगनायक विवेकानन्द, प्रथम् खण्ड पृ.- २५६ (जनवरी, १८९०)

(७) युगनायक विवेकानन्द, प्रथम् खण्ड, पृ.—३४०-३४१

(८) वही

(९) विवेकानन्द एवं समकोलीन भारतवर्ष—शंकरी प्रसाद वसु, प्रथम् खण्ड, १९८२, पृ.—२०-२१

(१०) युगनायक विवेकानन्द, प्रथम् खण्ड, पृ.-३५२

(११) वही— पृ.—३६७

(१२) वही — पृ.—३७५.

(१३) वही—पृ.—४०९.

(१४) वही—पृ.—३९३-३९५.

(१५) वही—पृ.—४०९.

ऐ परिव्राजक

स्वामी आत्मदेवानन्द
रामकृष्ण मिशन टीबी सेनेटोरियम, डुंगरी (रांची)

आज से ठीक एक सौ वर्ष पूर्व परिव्राजक स्वामी विवेकानन्द कन्याकुमारी की पवित्र ऐतिहासिक शिला पर हरहराता समुद्र लांघ कर पहुँचे थे। पूरे देश में आज इस पावन प्रसंग की शताब्दी मनायी जा रही है। इस प्रेरक क्षण में एक परिव्राजक अपने आप से कुछ कह रहा है : स्वान्तः सुखाय।

कुछ इंसान होते हैं, जो मरकर भी नहीं मरते
कुछ रिश्ते होते हैं, जो मिटाये नहीं मिटते,
कुछ रास्ते होते हैं, जो चलकर भी नहीं थकते
ऐसा लगता है ऐ परिव्राजक

वे इंसान नहीं, रिश्ते नहीं, रास्ते नहीं
वे फरिश्ते खुदा होते हैं।
कुछ परिंदे होते हैं, जो सदा ऊँचे और भी ऊंचे उड़ते हैं
इंसानियत का आसमान, और भी ऊँचे फरिश्तों का चमन,

और भी ऊँचे खुदाई का अंजुमन, या केवल भगवान ही भगवान
अनंत मंजिल से, अखंड सच्चिदानन्द से मिलकर,
इस जहाँ पर लौट आते हैं
आप और हम सबको वहाँ की खबर देते हैं,

और है यकीन उनपर तो तुझे यहाँ तक पहुँचा भी सकते हैं
ऐसा लगता है ऐ परिव्राजक
मुश्किल है समझना, है नहीं आसान यह
कि वे बंदे खुदा के होते हैं या खुद ही खुदा होते हैं

कि वे खुदा के वेश में इंसान होते हैं
या इंसान की लिबास में स्वयं खुदा होते हैं
सुनो, ऐ परिव्राजक
मंदिर और मसजिद की क्यों आपस में यह टकराहट।

क्यों यह टक्कर ? क्यों यह हिंसा का चक्कर ?
क्यों यह अशांति घर-घर ?
भगवान तो बंधता नहीं मंदिर में
न खुदा बंदी है मसजिद में

खुदा के बंदे ये इंसान, दिखते नहीं क्या नजरों में ?
करो उनसे मुहब्बत, करो उनकी सही खिदमत
वह जीता-जागता, हंसता खेलता खुदा नहीं है क्या ?
जीव को शिव जानकर प्रेमकर, सेवाकर, खिदमत कर

होगा दीदार अल्लाह का, तुझे मिल जायेगा ईश्वर ।
अनेक रूप लेता है, वह अल्लाह, यीशु, ईश्वर
सामने आता है वनके कभी पीड़ित, गरीब, दुखी
कभी मजदूर, कभी मजबूर ।

जीवन धन्य कर ले तू, अरे सुन ऐ परिव्राजक ।
उन्हीं को प्रेमकर, उन्हीं की सेवाकर, उन्हीं की खिदमत कर ।
अब कहता है परिव्राजक ।
सुनो मेरी अम्मा, मेरे अब्बा, मेरे भाईजान !

मुश्किल हो जायेगा आसान ।
भूल से जिसे तुम कहते हो इंसान
असल में वही है भगवान ।
असल में वही है भगवान ।

बौद्ध धर्म : हिन्दू-धर्म की निष्पत्ति

—स्वामी विवेकानन्द

मैं बौद्ध धर्मावलम्बी नहीं हूँ, जैसा कि आप लोगों ने सुना है, पर फिर भी मैं बौद्ध हूँ। यदि चीन, जापान अथवा सीलोन उस महान् तथागत के उपदेशों का अनुसरण करते हैं, तो भारतवर्ष उन्हें पृथ्वी पर अवतार मानकर उनकी पूजा करता है। आपने अभी अभी सुना कि मैं बौद्ध धर्म की आलोचना करने वाला हूँ, परन्तु उससे आपको केवल इतना ही नहीं समझना चाहिए। जिनको मैं इस पृथ्वी पर ईश्वर का अवतार मानता हूँ, उनकी आलोचना! मुझसे यह सम्भव नहीं। परन्तु बुद्ध के विषय में हमारी धारणा यह है कि उनके शिष्यों ने, उनकी शिक्षाओं को ठीक-ठीक नहीं समझा। हिन्दू धर्म (हिन्दू धर्म से मेरा तात्पर्य वैदिक धर्म है) और जो आजकल बौद्ध धर्म कहलाता है, उसमें आपस में वैसा ही संबंध है, जैसा यहूदी और ईसाई धर्मों में। ईसा मसीह यहूदी थे और शाक्य मुनि हिन्दू। यहूदियों ने ईसा को केवल अस्वीकार ही नहीं किया, उन्हें सूली पर भी चढ़ा दिया, हिन्दुओं ने शाक्य मुनि को ईश्वर के रूप में ग्रहण किया है और वे उनकी पूजा करते हैं। किन्तु प्रचलित बौद्ध धर्म में तथा बुद्धदेव की शिक्षाओं में जो वास्तविक भेद हम हिन्दू लोग दिखलाना चाहते हैं, वह विशेषतः यह है कि शाक्य मुनि कोई नयी शिक्षा देने के लिए अवतीर्ण नहीं हुए थे। वे भी ईसा के समान धर्म की सम्पूर्ति के लिए आये थे, उनका विनाश करने नहीं। अन्तर इतना ही था कि जहाँ ईसा को प्राचीन यहूदी नहीं समझ पाये वहीं बुद्धदेव की शिक्षाओं के महत्त्व को स्वयं उनके शिष्य ही अवगत नहीं कर पाये। जिस प्रकार यहूदी प्राचीन व्यवस्थान की निष्पत्ति नहीं समझ सके, उसी प्रकार बौद्ध भी हिन्दू धर्म के सत्यों की निष्पत्ति को नहीं समझ पाये। मैं यह बात फिर से दुहराना चाहता हूँ कि शाक्य मुनि ध्वंस करने नहीं आये थे। वरन् वे हिन्दू धर्म की निष्पत्ति थे, उनकी तार्किक परिणति और उसके युक्तिसंगत विकास थे।

हिन्दू धर्म के दो भाग हैं—कर्मकांड और ज्ञानकांड। ज्ञानकांड का विशेष अध्ययन संन्यासी लोग करते हैं।

ज्ञानकांड में जाति-भेद नहीं है। भारतवर्ष में उच्च अथवा नीच जाति के लोग संन्यासी हो सकते हैं, और तब दोनों जातियां समान हो जाती हैं। धर्म में जातिभेद नहीं है; जाति तो एक सामाजिक संस्था मात्र है। शाक्यमुनि स्वयं संन्यासी थे, और यह उनकी गरिमा ही है कि उनका हृदय इतना विशाल था कि उन्होंने 'वेदों' के छिपे हुए सत्यों को निकालकर उनको समस्त संसार में विकीर्ण कर दिया। इस जगत् में सबसे पहले वे ही ऐसे हुए, जिन्होंने धर्म प्रचार की प्रथा चलायी— इतना ही नहीं, वरन् मनुष्य को दूसरे धर्म से अपने धर्म में दीक्षित करने का विचार भी सबसे पहले उन्हीं के मन में उदित हुआ।

सर्वभूतों के प्रति, और विशेषकर अज्ञानी तथा दीनजनों के प्रति अद्भुत सहानुभूति में ही तथागत का महान गौरव सन्निहित है। उनके कुछ शिष्य ब्राह्मण थे। बुद्ध के धर्मोपदेश के समय संस्कृत भाषा जनभाषा नहीं रह गयी थी। वह उस समय केवल पंडितों के ग्रन्थों की ही भाषा थी। बुद्धदेव के कुछ ब्राह्मण शिष्यों ने उनके उपदेशों का अनुवाद संस्कृत भाषा में करना चाहा था, पर बुद्धदेव उनसे सदा यही कहते, "मैं दरिद्र और साधारण जनों के लिए आया हूँ, अतः जनभाषा में ही मुझे बोलने दो।" और इसी कारण उनके अधिकांश उपदेश अब तक भारत की तत्कालीन लोकभाषा में पाये जाते हैं।

दर्शनशास्त्र का स्थान जो भी हो, तत्वज्ञान का स्थान जो भी हो, पर जब तक इस लोक में मृत्यु नाम की वस्तु है, जब तक मानव-हृदय में दुर्बलता जैसी वस्तु है, जब तक मनुष्य के अंतःकरण से दुर्बलता जनित करुण क्रन्दन बाहर निकलता है, तब तक इस संसार में ईश्वर में विश्वास भी कायम रहेगा।

जहाँ तक दर्शन की बात है, तथागत के शिष्यों ने वेदों की सनातन चट्टानों पर बहुत हाथ-पैर पटके, पर वे उसे तोड़ न सके और दूसरी ओर उन्होंने जनता के बीच से उस सनातन परमेश्वर को उठा लिया, जिसमें हर नर नारी इतने अनुराग से आश्रय लेता है। फल यह हुआ कि बौद्ध धर्म को भारतवर्ष में स्वाभाविक मृत्यु प्राप्त करनी पड़ी और इस धर्म की जन्मभूमि भारत में अपने को बौद्ध कहने वाला एक भी स्त्री या पुरुष नहीं है।

किन्तु इसके साथ ही ब्राह्मण धर्म ने भी कुछ खोया—समाज सुधार का वह उत्साह, प्राणिमात्र के प्रति वह आश्चर्यजनक सहानुभूति और करुणा तथा वह अद्भुत रसायन, जिसे बौद्ध धर्म ने जन-जन को प्रदान किया था एवं जिसके फलस्वरूप भारतीय समाज इतना महान् हो गया था कि तत्कालीन भारत के सम्बन्ध में लिखने वाले एक यूनानी इतिहासकार को यह लिखना पड़ा कि एक भी ऐसा हिन्दू नहीं दिखायी देता, जो मिथ्या भाषण करता हो, एक भी ऐसी हिन्दू नारी नहीं है, जो पतिव्रता न हो।

हिन्दू धर्म बौद्ध धर्म के बिना नहीं रह सकता और न बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म के बिना ही। तब यह देखिए कि हमारे पारस्परिक पार्थक्य ने यह स्पष्ट रूप से प्रकट कर दिया है कि बौद्ध 'ब्राह्मणों के दर्शन और मस्तिष्क के बिना नहीं ठहर सकते, और न ब्राह्मण बौद्धों के विशाल हृदय के बिना। बौद्ध और ब्राह्मण के बीच यह पार्थक्य भारतवर्ष के पतन का कारण है। यही कारण है कि आज भारत में तीस करोड़ भिखमंगे निवास करते हैं, और वह एक सहस्र वर्षों से विजेताओं का दास बना हुआ है। अतः आइए, हम ब्राह्मणों की इस अपूर्व मेधा के साथ तथागत के हृदय, महानुभावता और अद्भुत लोकहितकारी शक्ति को मिला दें।

(वि० सा० १/२३-२५)

जगत एक प्रतिध्वनि है

योगी रजनीश

प्रस्तुति—डॉ. अनिल कुमार अग्रवाल

इस जगत में हम जो बोते हैं उसके अतिरिक्त हमें कुछ भी नहीं मिलता है, न मिलने का कोई उपाय है। हम वही पाते हैं जिसकी हम तैयारी करते हैं। हम वहीं पहुँचते हैं जहाँ की हम यात्रा करते हैं। हम वहाँ नहीं पहुँचते जहाँ की हमने यात्रा ही न की हो। यद्यपि हो सकता है, यात्रा करते समय हमने अपने मन में कल्पना की मंजिल कोई और बनायी हो।

रास्ते को कोई इससे प्रयोजन नहीं है। मैं नदी की तरफ नहीं जा रहा हूँ। मन में सोचता हूँ कि नदी की तरफ जा रहा हूँ, लेकिन बाजार की तरफ जानेवाले रास्ते पर चलूँगा तो मैं कितना ही सोचूं कि मैं नदी की तरफ जा रहा हूँ, मैं पहुँचूँगा बाजार ही। सोचने से नहीं पहुँचता है आदमी। जिन रास्तों पर चलता है उनसे पहुँचता है। मंजिलें मन में तय नहीं होतीं, रास्ते पर तय होती हैं।

आप कोई भी सपना देखते रहें, अगर बीज आपने नीम के बो दिये हैं तो सपने आप शायद ले रहे हैं कि कोई स्वादिष्ट मधुर फल लगेंगे—आपके सपनों से फल नहीं निकलते। फल आपके बोये बीजों से निकलते हैं। इसलिए आखिर में जब नीम के कड़वे फल हाथ में आते हैं तो शायद आप दुःखी होते हैं, पछताते हैं और सोचते हैं कि मैंने तो बीज बोये थे अमृत के, फल कड़वे कैसे आये?

ध्यान रहे फल ही कसौटी है और परीक्षा है बीज की। फल ही बताता है कि बीज आपने कैसे बोये थे? आपने कल्पना क्या की थी, उससे बीजों को कोई प्रयोजन नहीं है। हम सभी आनन्द पाना चाहते हैं जीवन में, लेकिन आता कहाँ है आनन्द? हम सभी शान्ति चाहते हैं जीवन में, लेकिन मिलती कहाँ है शान्ति। हम सब चाहते हैं कि सुख महासुख ही बरसे, पर बरसता कभी नहीं। तो इस सम्बन्ध में एक बात इस सूत्र से समझ लेनी जरूरी है कि हमारी चाह से नहीं आते फल। हम जो बोते हैं उससे आते हैं। हम चाहते कुछ हैं, बोते कुछ हैं। हम बोते जहर हैं और चाहते अमृत है। इसलिए जब फल आते हैं तो जहर के ही आते हैं, दुःख और पीड़ा के ही आते हैं—नर्क ही फलित होता है।

बहुत पुरानी बात है, एक आदमी क्रोध के बीज बोये और शान्ति पाना चाहे। एक आदमी घृणा के बीज बोये और प्रेम की फसल काटना चाहे। आदमी चारों तरफ शत्रुता फैलाये और चाहे कि सारे लोग उसके मित्र हो जायं। एक आदमी सबकी तरफ गालियाँ फेंके और चाहे कि शुभाशीष सारे आकाश से उसके ऊपर बरसने लगें। यह असम्भव चाह करना है। मैं गाली दूं और दूसरा मुझे आदर दे जाय, ऐसी असम्भव कामना हमारे मन में चलती है। मैं दूसरे को घृणा करूं और दूसरे मुझे प्रेम कर जायं। मैं किसी पर

भरोसा न करूं और सब मुझ पर भरोसा कर लें। मैं सबको धोखा दूं और मुझे कोई धोखा न दे। मैं सबको दुःख पहुँचाऊँ, लेकिन मुझे कोई दुःख न पहुँचाये।

जो हम बोयेंगे, वही हम पर लौटने लगेगा। जीवन का सूत्र ही यह है कि जो हम फेंकते हैं वही हमपर वापस लौट आता है। चारों ओर हमारी ही फेंकी हुई ध्वनियां प्रतिध्वनित होकर हमें मिल जाती हैं। थोड़ी देर अवश्य लगती है। ध्वनि टकराती है बाहर की दिशाओं से और लौट आती है। जबतक हमें ख्याल भी नहीं रह जाता कि हमने जो गाली फेंकी थी वही वापस लौट रही है।

बुद्ध का एक शिष्य एक रास्ते से गुजर रहा है। उसके साथ दस-पन्द्रह संन्यासी हैं। जोर से पैर में उसके पत्थर लग जाता है रास्ते पर खून बहने लगता है। शिष्य आकाश की तरफ हाथ जोड़कर किसी आनन्द भाव में लीन हो जाते हैं। उसके साथी वे पन्द्रह भिक्षु हैरानी में खड़े रह जाते हैं। शिष्य जब अपने ध्यान से वापस लौटता है तब उससे पूछते हैं कि आप क्या कर रहे थे? पैर में चोट लगी, पत्थर लगा, खून बहा और आप कुछ इस प्रकार हाथ जोड़े हुए थे जैसे किसी को धन्यवाद दे रहे हों।

शिष्य ने कहा, बस यह एक मेरा विषका बीज और बाकी रह गया था। मारा था किसी को पत्थर कभी, आज उससे छुटकारा हो गया। आज नमस्कार करके धन्यवाद दे दिया। हे प्रभु को कि अब मेरे बोये हुए बीज कुछ भी न बचे। यह आखिरी फसल समाप्त हो गयी। लेकिन अगर आपको रास्ते पर चलते वक्त पत्थर पैर में लग जाय तो इसकी बहुत कम संभावना है कि आप ऐसा सोचें कि किसी बोये हुए बीज का फल हो सकता है। ऐसा नहीं सोच पायेंगे। संभावना यही है कि रास्ते पर पड़े हुए पत्थर को भी आप एक गाली जरूर देंगे और यह ख्याल भी न करेंगे कि फिर बीज बो रहे हैं आप। पत्थर को दी हुई गाली भी बीज बनेगी। सवाल यह नहीं है कि किसको गाली दी। सवाल यह है कि आपने गाली दी, वह वापस लौटेगी।

हमारा गणित ऐसा है कि जो गाली वापस नहीं लौटा सकता उसे गाली देने में हर्ज क्या है? इसलिए अपने से कमजोर को देखकर हम सब गाली देते हैं। हम बेवक्त गाली देते हैं, जब कोई जरूरत न भी हो। कमजोर दिखा कि हमारा दिल मचलता है कि थोड़ा इसको सता लो।

जीवन में जब भी हम कुछ बुरा कर रहे हैं तो किसी दूसरे के साथ कर रहे हैं, यह भ्रान्ति है हमारी। प्राथमिक रूप से हम अपने ही साथ कर रहे हैं क्योंकि अन्तिम फल हमें भोगने हैं। वह जो भी हम बो रहे हैं, उसकी फसल हमें काटनी है। इंच-इंचका हिसाब है। इस जगत में कुछ भी बेहिसाब नहीं जाता है। हम अपने शत्रु हो जाते हैं। हम कुछ ऐसा करते हैं जिससे हम अपने को ही दुःख में डालते हैं, अपने ही दुःख में उतरने की सीढ़ियां निर्मित करते हैं।

तो ठीक से देख लेना, जो आदमी अपना शत्रु है, वही आदमी अधार्मिक है और जो अपना शत्रु है वह किसी का मित्र तो कैसे हो सकेगा? जो अपना भी मित्र नहीं, जो अपने लिए ही दुःख के आधार बना रहा है वह सबके लिए दुःख के आधार बना देगा।

पहला पाप अपने साथ शत्रुता है। फिर उसका फैलाव होता है। फिर अपने निकटतम लोगों के साथ शत्रुता बनती है, फिर दूरतम लोगों के साथ। फिर जहर फैलता चला जाता है। हमें पता भी नहीं चलता, जैसे कि झील में, कोई शान्त झील में पत्थर फेंक दे। चोट पड़ते ही पत्थर तो नीचे बैठ जाता है क्षण भर में, लेकिन झील की

सतह पर उठी हुई लहरें दूर-दूर तक यात्रा पर निकल जाती हैं। लहरें चलती चली जाती हैं अनन्त तक।

ऐसे ही हम जो करते हैं…हम तो करके चुक भी जाते हैं—आपने गाली दे दी, बात खतम हो गयी—फिर आप गीता पढ़ने लगे या कुछ भी करने लगे, लेकिन उस गाली की जो 'रिपिल्स', जो तरंगे पैदा हुईं वे चल पड़ीं। वे न मालूम कितने दूर के छोरों को छुयेंगी और जितना अहित उस गाली से होगा उतने अहित के लिए आप जिम्मेवार हो गये। आप कहेंगे, कितना अहित हो सकता है एक गाली से ? मैं कहता हूँ, अकल्पनीय अहित हो सकता है। और जितना अहित हो जायेगा इस विश्व के तन्त्र में उतने के लिए आप जिम्मेदार हो जायेंगे। और कौन जिम्मेदार होगा ? आपने उठाई वे लहरें। आपने ही बोया वह बीज। अब वह चल पड़ा। अब वह दूर-दूर तक फैल जायगा।

विवेक शिखा—स्थायी कोष के दाता

११.	श्री रामलायक सिंह	—	सम्होता (छपरा)	२५ रुपये
१२.	डा० एस पी० भार्गव	—	अजमेर	१०० रुपये
१३.	श्री राम छविला सिंह	—	मुजफ्फरपुर	२५ रुपये
१४.	श्री निखिल शिवहरे	—	दमोह (म० प्र०)	१५१ रुपये
१५.	श्रीमती उषारानी कर्ण	—	सुरसंड, (सीतामढ़ी)	१०० रुपये
१६.	श्री पी० सी० सरकार	—	नरेन्द्रपुर (प० बं०)	१०० रुपये
१७.	श्रीमती मीरा मित्रा	—	इलाहाबाद	२०१ रुपये
१८.	श्री गोपाल शं० तायवाडे	—	अमरावती (महाराष्ट्र)	१०० रुपये
१९.	श्री महादेव शि० गुंडावार	—	भद्रावती (महाराष्ट्र)	५० रुपये
२०	श्री राजीव कुमार राजू	—	सैदपुर, पटना-४	३१ रुपये
२१.	श्री राज सिंह	—	गाजियाबाद (उ० प्र०)	५० रुपये
२२.	श्री चन्द्र मोहन	—	टुण्डला (उ० प्र०)	९८५ रुपये
२३.	श्री के० अनूप	—	अरुणाचल प्रदेश	२० रुपये
२४।	श्री शतदल साधु खान	—	सोनारपुर(पश्चिम बंगाल)	१०० रुपये
२५.	श्री ए० जी० डगाँवकर	—	यवतमाल	५१ रुपये
२६.	श्रीमती उषा गुप्ता	—	रायपुर (म० प्र०)	२०० रुपये
२७.	श्री पी० राम	—	पटना (बिहार)	२५१ रुपये
२८.	टी० रघुवीर राव	—	उडुवी (कर्नाटक)	२५ रुपये

निवेदन—१ स्थायी कोष के लिए दान सम्पादकीय पते पर भेजने की कृपा करें।
२. चेक या ड्राफ्ट "विवेक शिखा" के नाम से भेजें।

"समन्वय और शान्ति, न कि मतभेद और कलह"

—मोहन सिंह मनराल
अध्यापक, इन्टर का० गुर्दइंख
पो०—विठौली, जि० अल्मोड़ा
(उ० प्र०) २६३६५१

स्वामी विवेकानन्द ने ११ सितम्बर सन् १८९३ ई० को अमेरिका के शिकागो नगर में आयोजित विश्वधर्म महासभा में 'अमेरिकावासी बहनो और भाइयो' के सम्बोधन से समस्त श्रोताओं और दर्शकों को सम्मोहित किया था जिसे एक सौ वर्ष पूरे हो गये हैं। उनकी इस ऐतिहासिक भूमिका की शताब्दी के अवसर पर उनके उस महान संदेश की प्रासंगिकता को परखने का समय आ गया है जो आज समय की माँग बनकर सामने खड़ा है। उनका वह महान संदेश है—"समन्वय और शान्ति न कि मतभेद और कलह' जिसे उन्होंने २७ सितम्बर १८९३ को अधिवेशन के अन्तिम दिन भाषण करते हुए विश्व को दिया था। उन्होंने कहा था"—शीघ्र ही सारे प्रतिरोधों के बावजूद प्रत्येक धर्म की पताका पर यह लिखा रहेगा—"सहायता करो, लड़ो मत", 'परभाव-ग्रहण न कि पर भाव विनाश', 'समन्वय और शांति न कि मतभेद और कलह।"

आज के विश्व में जहाँ चारों ओर मतभेद और कलह से समाज और राष्ट्र जल रहे हैं, हिंसा द्वेष और कभी न समाप्त होने वाली प्रतियोगिता और भौतिकवादिता से मानवीय मूल्यों व बन्धुत्व की अवधारणा को नुकसान पहुँच रहा है स्वामीजी के संदेश की प्रासंगिकता अधिक मुखरित हो रही है। परस्पर मतभेद और कलह के पीछे क्या कारण हो सकते हैं और उन्हें किस प्रकार दूर करने का प्रयास किया जा सकता है। इस बात को स्वामीजी बड़े रोचक तरीके से समझाते हैं।

हमारे मतभेदों के कारण और निवारण के उपाय :—स्वामीजी एक कहानी कहते हैं कि एक कुएं में समुद्र से आया मेंढ़क गिर पड़ता है। कुएं के मेंढ़क से उसका वार्तालाप इस विषय पर होता है कि समुद्र कितना बड़ा है। कुएँ का मेंढ़क बार-बार छलांग लगा कर समुद्री मेंढ़क से पूछता है कि क्या तुम्हारा समुद्र इतना बड़ा है? प्रतिउत्तर में समुद्र का मेंढ़क मात्र इतना ही कहता है कि क्या समुद्र की तुलना तुम्हारे कुएं से हो सकती है? अन्त में कुएँ वाला मेंढ़क तिरस्कार करते हुए कहता है—"आ जा मेरे कुएँ से बढ़कर और कुछ हो ही नहीं सकता। संसार में इससे बड़ा और कुछ नहीं है। झूठा कहीं का। अरे। इसे बाहर निकाल दो।' स्वामीजी कहते हैं 'यही कठिनाई सदैव रही है। मैं हिन्दू हूँ। मैं अपने क्षुद्र कुएँ में बैठा यही समझता हूँ कि मेरा कुआँ ही सम्पूर्ण संसार है। ईसाई और मुसलमान भी अपने क्षुद्र कुएँ में बैठे उसी को सारा ब्रह्माण्ड मानते हैं।" परन्तु यह संकीर्णता ही मृत्यु है और विस्तार ही जीवन है।" स्वामीजी इस विस्तार की चरम सीमा को छूते हुए कहते हैं—'एक सच्चा ईसाई सच्चा हिन्दू होता है और एक सच्चा हिंदू सच्चा ईसाई।" जैसा कि श्रीरामकृष्ण कहते हैं—"धर्म सम्प्रदाय विशेष में अथवा बाह्याडम्बर में नहीं है।' जहाँ यह सच्चाई नहीं वहाँ आन्तरिकता नहीं और जहाँ आन्तरिकता नहीं वहाँ बाह्याडम्बर ही प्रधान हो जाता है जो संघर्ष, द्वेष, ईर्ष्या, व हिंसा को जन्म देता है। पर उस तथाकथित संकीर्णता जो अज्ञान

की उपज है का निवारण मानव की गरिमा को महत्व देकर ही संभव है न कि उसे पापी मान लेने में। स्वामी विवेकानन्द ने मानव के देवत्व पर विश्वास कर उसमें बुद्धि व हृदय की एकता को जाग्रत कर उस संकीर्णता व परस्पर कलह की समस्या का समाधान प्रस्तुत किया है।

'मानव के देवत्व पर विश्वास और उसका जागरण" :—स्वामी जी यह मानने को तैयार नहीं है कि मानव इन संकीर्णताओं व दुर्बलताओं के आगे घुटने टेक देगा या हार जायेगा। उनका विश्वास है कि वह इन्हें पार कर लेगा, ऊँचा उठेगा और अंततः विजित होगा। क्योंकि उनका विश्वास था कि मनुष्य निरन्तर उच्चतर सत्य की ओर अग्रसर हो रहा है जैसा धर्म सभा में वे कहते हैं—"मनुष्य भ्रम से सत्य की ओर नहीं जा रहा वह तो सत्य से सत्य की ओर निम्न श्रेणी के सत्य से उच्च श्रेणी के सत्य की ओर अग्रसर हो रहा है।" "अन्धविश्वास मनुष्य का महान शत्रु है पर धर्मांधता तो उससे भी बढ़कर है।" मनुष्य को पापी कहना ही पाप है वह मानव के स्वरूप पर घोर लांछन है।" पाप वास्तव में क्या है? वह है दुर्बलता जिससे हिंसा और द्वेष का जन्म होता हैं। इस बात को स्वामीजी अपने शिष्य शरच्चन्द्र के प्रश्नोत्तर में स्पष्ट करते हुए कहते हैं—"सब प्रकार की दुर्बलता को ही पाप कहते हैं। इससे हिंसा तथा द्वेष का जन्म होता है। इसलिए दुर्बलता का दूसरा नाम पाप है।" दुर्बलता आती क्यों है? इसके मूल में जाते हुए स्वामीजी कहते हैं—"हृदय में आत्मा सर्वदा प्रकाशमान है परन्तु उधर कोई ध्यान नहीं देता। केवल जड़, शरीर, हड्डी तथा मांस के अद्भुत पिंजड़े पर ही ध्यान रखकर 'मैं" मैं" करते हैं। यही सब प्रकार की दुर्बलता का मूल है।" बिना इस दुर्बलता से मुक्ति पाये पाप व असत्य से मुक्ति नहीं मिल सकती है जिसके लिए सतत् संघर्ष अनिवार्य है जो कायर के बस की बात नहीं हर क्षेत्र में वीर होना ही एकमात्र उपाय है। उस बात को स्वामीजी अपने एक पत्र में लिखते हैं—"वत्सो याद रखना कि कायर तथा दुर्बल व्यक्ति ही पापाचरण करते हैं एवं झूठ बोलते हैं। साहसी और शक्तिशाली व्यक्ति ही सदा नीतिपरायण होते हैं।" मनुष्य में इस शक्ति व साहस की अपार सम्भावना को देख व समझ कर स्वामीजी धर्मसभा के मंच से मानव को 'अमृत के पुत्रो' कहकर सम्बोधित करते हैं। कितना अद्भुत सम्बोधन है यह। एकदम मनुष्य को ऊपर उठा देने वाला संदेश जहां दुर्बलता टिकती ही नहीं। मानव हाड़-मांस का पुतला मात्र नहीं वरन सर्वव्यापी आत्मा का आश्रयस्थल है। उसी मानव शरीर को आश्रय बनाकर ईश्वर ने लीलाएँ की हैं और मानव को भी ईश्वर हो जाना है। अपना 'अमृत का पुत्र' नाम सार्थक करना है। तब वह दीन, हीन, दुर्बल क्यों? स्वयं को ऐसा समझने वाला सचमुच ऐसा ही हो जाता है। श्रीरामकृष्ण देव कहते हैं जो स्वयं को बद्ध समझेगा वह बद्ध और जो मुक्त समझेगा वह मुक्त ही हो जायेगा। ना ना करने से सांप का विष भी असर नहीं करता। जैसा भाव वैसा लाभ। मूल बात है—विश्वास।' यही संदेश है जागरण का एक व्यक्ति से लेकर सम्पूर्ण राष्ट्र समग्र मानव जाति का जिसकी हुंकार करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा था—"आप उठें! हे सिंहों! आयें और इस मिथ्या भ्रम को झटककर दूर फेंक दें कि आप भेंड़ हैं। आप हैं आत्मा अमर, आत्मा मुक्त, आनन्दमय और नित्य। आप जड़ नहीं हैं; आप शरीर नहीं हैं, जड़ तो आपका दास है। न कि आप हैं दास जड़ के।"

"उत्तरोत्तर उन्नति हो मूलमंत्र :—मानव की शाश्वत गरिमा को उसके देवत्व तक ऊपर उठाने वाले विवेकानन्द एक नई भवधारा का प्रवाह करते हैं जो सर्वत्र, आशा, बल, व शान्ति का संचार करती है और सदा करती रहेगी। यह भावधारा युगों की निराशाओं को मिटाती है, कुण्ठाओं की गांठ खोलती है। व्यक्ति समाज व राष्ट्र को नव स्फूर्ति प्रदान करती है। इस भावधारा के उद्घोषक स्वामीजी कानों में बार-बार यह मंत्र फूंकते नजर आते हैं कि उसे दिव्य बनना है और उत्तरोत्तर उन्नति करते रहना है। तभी तो

स्वामीजी धर्मसभा के मंच से कहते हैं—"मनुष्य को ईश्वर का साक्षात्कार करके दिव्य बनना है। मूर्त्तियाँ, मन्दिर, गिरजाघर या ग्रंथ तो धर्म जीवन की बाल्या-वस्था में केवल आधार या सहायक मात्र हैं पर उसे उत्तरोत्तर उन्नति ही करनी चाहिए।'

जी हाँ उत्तरोत्तर उन्नति का मूलमंत्र है जिससे जिओ और जीने दो का सिद्धान्त निकला है और जो समन्वय और शान्ति की अवधारणा का प्राण है। यह प्रगति व्यक्तिगत स्तर पर होकर समग्रता धारण कर सकती है सामाजिक प्रगति जैसी कोई चीज नहीं है। व्यक्ति को प्रभु से देवता तक ऊपर उठना है जैसा स्वामी जी कहते हैं--"...यदि आप साधनारम्भ की दिशा की ओर सिंहावलोकन करें तो आपको मालूम होगा कि पहले आप पशु थे, अब मानव हैं। आगे चलकर आप एक देवता और स्वयं परब्रह्म हो जायेंगे।" इसी उत्तरोत्तर प्रगति को जागरण का मूल मानते हुए स्वामी जी युवावर्ग के प्राणों में नवचेतना का संचार करते हुए कहते हैं—"पीछे मत देखो कि कौन गिरा आगे बढ़ो......बढ़ते चलो। उत्तिष्ठत् जाग्रत् प्राप्य वरान्निबोधत—उठो जागो और लक्ष्य की प्राप्ति तक रुको मत।" मानव की यह प्रगति ही समन्वय व शान्ति ला सकती है जो परस्पर मतभेद व कलह को मिटाने में अंततः सफल होगी।

अतः व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वामी विवेकानन्द के ये स्फूर्तिदायी विचार सम्पूर्ण कालों में मनुष्य को प्रेरणा देते रहेंगे उसके आत्मविश्वास को उससे जोड़ते रहेंगे और इनकी प्रासं-गिकता सदा विद्यमान रहेगी जैसा कि स्वामीजी ने अपने एक अमेरिकन भक्त के यह कहने पर कि—स्वामी जी जहाज छूट रहा है आपको समय का कोई विचार नहीं, कहा था—"नहीं, तुम समय में जीते हो और हम अनन्त में।"

सच कहा हैं अनन्त में जीने वाला भूत, वर्तमान व भविष्य की सीमाओं से कैसे आबद्ध हो सकता है? वह तब भी था और आज भी है और हमेशा रहेगा और हमें तबतक प्रेरणा देता रहेगा जब तक हम यह न समझ लें कि हम और ईश्वर अभिन्न हैं। यह वे स्वयं अपने श्रीमुख से कह गये हैं। जय रामकृष्ण!

महाभारत के कुछ प्रश्न

—स्वामी ज्ञानातीतानन्द
रामकृष्ण आश्रम, राजकोट

प्रश्न— सूर्य को कौन ऊपर उठाता (उदित करता) है? उसके चारो ओर कौन चलते हैं? उसे अस्त कौन करता है? और वह किसमें प्रतिष्ठित है?

उत्तर— ब्रह्म सूर्य को ऊपर उठाता (उदित करता) है।
देवता उसके चारो ओर चलते हैं।
धर्म उसे अस्त करता है।
वह सत्य में प्रतिष्ठित है।

प्रश्न— मनुष्य श्रोत्रिय किससे होता है? महत्वपद किसके द्वारा प्राप्त करता है? वह किसके द्वारा द्वितीयवान (दूसरे साथी से युक्त) होता है? किससे बुद्धिमान होता है?

उत्तर— वेदाध्ययन के द्वारा मनुष्य श्रोत्रिय होता है।
तप से महत्वपद प्राप्त करता है।
धैर्य से द्वितीयवान होता है।
वृद्ध पुरुषों की सेवा से बुद्धिमान होता है।

प्रश्न— ब्राह्मणों में देवत्व क्या है ?
उनमें सत्पुरुषों का सा धर्म क्या है ?
उनका मनुष्यभाव क्या है ?
उनमें असत्पुरुषों का आचरण क्या है ?

उत्तर— वेदों का स्वाध्याय ही ब्राह्मणों में देवत्व है।
तप सत्पुरुषों का-सा धर्म है।
मरना मनुष्यभाव है।
निन्दा करना असत्पुरुषों का-सा आचरण है।

प्रश्न — क्षत्रियों में देवत्व क्या है ?
उनमें सत्पुरुषों का सा धर्म क्या है ?
उनका मनुष्य भाव क्या है ?
उनमें असत्पुरुषों का-सा आचरण क्या है ?

उत्तर— बाणविद्या क्षत्रियों का देवत्व है।
यज्ञ उनका सत्पुरुषों का-सा धर्म है।
भय मानवीय भाव है।
शरण में आये हुए दुखियों का परित्याग करना उसमें असत्पुरुषों का-सा आचरण है।

प्रश्न— कौन एक वस्तु यज्ञीय साम है ?
कौन एक यज्ञीय यजु है ?
कौन एक वस्तु यज्ञ का वरण करती है ?
किस एक का यज्ञ अतिक्रमण नहीं करता ?

उत्तर — प्राण ही यज्ञीय साम है।
मन ही यज्ञसम्बन्धी यजु है।
एकमात्र ऋचा ही यज्ञ वरण करती है।
उसी का यज्ञ अतिक्रमण नहीं करता ;

प्रश्न— खेती करनेवालों के लिए कौनसी वस्तु श्रेष्ठ है ?
बोने वालों के लिए क्या श्रेष्ठ है ?
प्रतिष्ठा प्राप्त धनियों के लिए कौन-सी वस्तु श्रेष्ठ है।
संतानोत्पादन करनेवाले के लिए क्या श्रेष्ठ है ?

उत्तर— खेती करने वालों के लिए बीज श्रेष्ठ है।
बोने वालों के लिए बीज श्रेष्ठ है।
प्रतिष्ठा प्राप्त धनियों के लिए गौ का पालन-पोषण संग्रह श्रेष्ठ है।
संतानोत्पादन करनेवालों के लिए पुत्र श्रेष्ठ है।

प्रश्न — ऐसा कौन पुरुष है, जो बुद्धिमान, लोक में सम्मानित और सब प्राणियों का माननीय होकर इन्द्रियों के विषयों को अनुभव करते तथा श्वास लेते हुए भी वास्तव में जीवित नहीं है ?

उत्तर— जो देवता, अतिथि, भरणीय कुटुम्बीजन पितर और आत्मा—इन पांचों का पोषण नहीं करता वह श्वास लेने पर भी जीवित नहीं है।

प्रश्न— पृथ्वी से भी भारी क्या है ?
आकाश से ऊंचा क्या है ?
वायु से भी तेज चलनेवाला क्या है ?
तिनकों से भी अधिक (असंख्य) क्या है ?

उत्तर— माता का गौरव पृथ्वी से भी अधिक है।
पिता आकाश से भी ऊँचा है।
मन वायु से भी तेज चलनेवाला है।
चिन्ता तिनकों से भी अधिक असंख्य है, अनन्त है।

प्रश्न— कौन सोनेपर भी आँखे नहीं मूंदता ?
उत्पन्न होकर भी कौन चेष्टा नहीं करता ?
किसमें हृदय नहीं है ?
कौन वेग से बढ़ता है ?

उत्तर— मछली सोनेपर भी आँखें नहीं मूंदती।
अण्डा उत्पन्न होकर भी चेष्टा नहीं करता।
पत्थर में हृदय नहीं है।
नदी वेग से बढ़ती है।

प्रश्न— प्रवासी (परदेश के यात्री) का मित्र कौन है ?
गृहवासी (गृहस्थ) का मित्र कौन है ?
रोगीका मित्र कौन है ?
मृत्यु के समीप पहुँचे हुए मनुष्य का मित्र कौन है ?

उत्तर—सहयात्रियों का समुदाय अथवा साथमें यात्रा करनेवाला साथी ही प्रवासी का मित्र है,
पत्नी गृहवासीका मित्र है।
वैद्य रोगी का मित्र है।
दान मुमूर्षु (मरनेवाले) मनुष्य का मित्र है

प्रश्न— समस्त प्राणियों का अतिथि कौन है?
सनातन धर्म क्या है?
अमृत क्या है?
यह सारा जगत क्या है?

उत्तर—अग्नि समस्त प्राणियों का अतिथि है।
गौ का दूध अमृत है।
अविनाशी नित्य धर्म ही सनातन धर्म है।
वायु यह सारा जगत है।

प्रश्न— अकेला कौन विचरता है?
एक बार उत्पन्न होकर पुनः कौन उत्पन्न होता है?
शीत की औषधि क्या है?
महान् आवपन (क्षेत्र) क्या है?

उत्तर—सूर्य अकेला विचरता है।
चन्द्रमा एक बार जन्म लेकर पुनः जन्म लेता है।
अग्नि शीत की औषधि है।
पृथ्वी बड़ा भारी अपावन (क्षेत्र) है।

प्रश्न— धर्म का मुख्य स्थान क्या है?
यश का मुख्य स्थान क्या है?
स्वर्ग का मुख्य स्थान क्या है?
सुख का मुख्य स्थान क्या है?

उत्तर—धर्म का मुख्य स्थान दक्षता है।
यश का मुख्य स्थान दान है।
स्वर्गका मुख्य स्थान सत्य है।
सुखका मुख्य स्थान शील है।

प्रश्न—मनुष्य की आत्मा क्या है?
इसका देवकृत सखा कौन है?
इसका उपजीवन (जीवन का सहारा) क्या है?
इसका परम आश्रम क्या है?

उत्तर—पुत्र मनुष्य की आत्मा है।
स्त्री इसकी देवकृत सहचरी है।
मेघ उपजीवन है।
दान इसका परम आश्रय है।

प्रश्न— धन्यवाद के योग्य पुरुषों में उत्तम गुण क्या है?
धनों में उत्तम धन क्या है?
लाभों में प्रधान लाभ क्या है?
सुखों में उत्तम सुख क्या है?

उत्तर—धन्य पुरुषों में दक्षता ही उत्तम गुण है।
धनों में शास्त्रज्ञान प्रधान है।
लाभों में आरोग्य श्रेष्ठ है।
सुखों में सन्तोष ही उत्तम सुख है।

प्रश्न— लोक में श्रेष्ठ धर्म क्या है?
नित्य फल वाला धर्म क्या है?
किसको वश में रखने से मनुष्य शोक नहीं करते?
किनके साथ की हुई मित्रता नष्ट नहीं होती?

उत्तर—लोक में दया श्रेष्ठ धर्म है।
वेदोक्त धर्म नित्य फलवाला है।
मनको वश में रखने से मनुष्य शोक नहीं करते।
सत्पुरुषों के साथ की हुई मित्रता नष्ट नहीं होती।

प्रश्न— किस वस्तु को त्याग देनेपर मनुष्य प्रिय होता है?
किसको त्यागकर शोक नहीं करता?
किसको त्यागकर वह अर्थवान होता है?
किसको त्यागकर सुखी होता है?

उत्तर—मानको त्याग देनेपर मनुष्य प्रिय होता है।
क्रोधको त्याग कर शोक नहीं करता।
कामको त्यागकर वह अर्थवान होता है।
लोभको त्यागकर सुखी होता है।

('महाभारत' से संकलित)

कोई छोटा नहीं

—स्वामी विवेकानन्द

काम करना ही मनुष्य का स्वभाव है। काम के बिना कोई नहीं रह सकता। कर्म के द्वारा ही मनुष्य महान् होता है। कर्म के द्वारा ही वह शुभ्र हो जाता है, और इसी कर्म के द्वारा मनुष्य ईश्वर को प्राप्त करता है या स्वयं ईश्वर हो उठता है। जिस कर्म से मनुष्य ईश्वर-लाभ करता है उसी का नाम है कर्मयोग। स्वामी विवेकानन्द ने कर्मयोग के सम्बन्ध में अनेक वक्तुताएं दी थीं। उन सबों को संकलित करके कर्मयोग पुस्तक प्रकाशित हुई थी। यह कहानी "कर्मयोग" में है।

बहुत पुरानी बात है। एक देश में एक राजा थे। उनका नाम था विश्वधर। वे बड़े धार्मिक प्रकृति के मनुष्य थे। अन्तर में जो विश्वास जगता, वही कार्य वे करते थे। राजा ने अनेक धार्मिक पुस्तकें पढ़ी थीं। सब पढ़कर उन्हें लगा कि संसार में रहकर जो सांसारिक कर्त्तव्यों को ठीक-ठीक करता है, वही महान् है। संसार त्याग कर जो संन्यासी हो जाता है, वह महान् नहीं।

उन दिनों की प्रथा के अनुसार अनेक संन्यासी राजा के दर्शन हेतु राजसभा में आते थे। क्योंकि राज-दर्शन अत्यन्त पुण्य का कार्य माना जाता था। राजा विश्वधर के दर्शन हेतु भी अनेक संन्यासी राज सभा में आते थे। उन सबसे राजा विश्वधर पूछा करते थे कि गृहस्थ महान् है या संन्यासी।

परन्तु वे राजा को किसी भी तरह यह नहीं समझा सकते थे कि गृहस्थ से संन्यासी महान् है। तब राजा उन्हें आदेश देते कि वे विवाह कर गृह-धर्म का पालन करें।

कुछ दिनों के बाद एक संन्यासी विश्वधर की राज सभा में आये। उस संन्यासी का नाम था—कल्याणक। राजा ने वही प्रश्न उनसे भी किया—"गृहस्थ महान् है या संन्यासी ?"

गंभीर होकर संन्यासी ने कहा, "दोनों ही महान् हैं।"

अवाक् होकर विश्वधर ने प्रश्न किया, "वह कैसे ?" कल्याणक ने कहा, "महाराज, गृहस्थ से बड़ा संन्यासी नहीं होता और संन्यासी से गृहस्थ भी बड़ा नहीं होता। जो गृहस्थ-धर्म ठी-ठाक पालन करता है, जो संन्यास धर्म ठीक-ठीक पालन करता है, उभय ही समान हैं।"

राजा ने पुनः प्रश्न किया, "आपकी बात सच है, यह मैं कैसे जानूंगा ? आपको इसका प्रमाण देना पड़ेगा। यदि आप प्रमाण न दे सकें तो आपको संन्यास त्यागकर संसार ग्रहण करना पड़ेगा।

संन्यासी ने धीरे-धीरे कहा, "मैं प्रमाण निश्चय ही दे सकता हूँ, राजन्। परन्तु प्रमाण के लिए आपको भी कुछ कष्ट स्वीकार करने पड़ेंगे।

राजा ने उत्सुक होकर प्रश्न किया, "कैसा कष्ट ?" कल्याणक ने कहा, "कष्ट और कुछ भी नहीं, आपको मेरे साथ वेश बदलकर देश-देश भ्रमण करना पड़ेगा। आप कर सकेंगे, राजन् ?"

राजा राजी हो गये।

संन्यासी बड़ा है या गृहस्थ—यह एक जटिल एवं महत् प्रश्न है। इस प्रश्न ने विश्व में चिरकाल से अनेक अन्तर को तरंगित किया है। कोई कहता है संन्यासी महान् है तो कोई कहता है, गृहस्थ महान् है।

इसकी और मीमांसा नहीं हो सकती। विदयधर के मन को भी इसी प्रश्न ने उद्वेलित किया था। यथार्थ में सत्य क्या है, यह जानने के लिए राजा देश भ्रमण क्या, कोई भी कठिन से कठिन कार्य करने को प्रस्तुत थे। तब उन्होंने राज्य का भार मंत्री को सौंप राज पोशाक परित्यक्त कर वेश बदलकर कल्याणक के संग निकल पड़े।

कल्याणक आगे-आगे जा रहे थे, पीछे-पीछे जा रहे थे राजा विदयधर। जाते-जाते दोनों में मित्रता हो गयी। कल्याणक मार्ग में कितने तीर्थों, कितने देश-विदेशों की कहानी सुनाते जाते थे। इससे राजा को पता नहीं लगता था कि किस प्रकार दिन पर दिन बीतते जा रहे थे। मार्ग के कष्टों का असर न राजा के शरीर पर होता था न मन पर। ग्राम-मार्गों पर कल्याणक भिक्षा मांगकर लाते थे एवं आनन्दपूर्वक उसी से वे अपना काम चला लेते थे। इस प्रकार दिन भी आराम से बीत जाते थे एवं मार्ग भी शेष होता जाता था।

राजा बीच-बीच में सोचते, संसार में आबद्ध मानव को कितना कष्ट है। जी-तोड़ परिश्रम कर, सिर के पसीने को पैर पर गिरा रुपया कमाना पड़ता है, स्त्री-पुत्र परिवार पालन करना पड़ता है, नित्य आहार के बारे में चिंता करनी पड़ती है, धन-सम्पत्ति की देख-रेख करनी पड़ती है, पुत्र का रोग, पुत्री का विवाह, मामला-मुकदमा एवं और कितनी विपत्तियों का सामना करना पड़ता है। संन्यासियों को इन सारी चीजों से कोई वास्ता नहीं। तपस्या एवं धर्म-कथा के बीच उनके दिन आनन्दपूर्वक बीत जाते हैं। खान-पान, रहन-सहन की चिंता उन्हें नहीं होती। न ही वे मान की कामना करते हैं, न ही उनका अपमान होता है। वस्तुतः संन्यासियों के जीवन में बड़ा सुख है।

विश्वधर ने फिर सोचा, "नहीं, अपने सुख के लिए जो संसार का त्याग करता है, वह तो अवश्य महास्वार्थी है। जो दुखों-कष्टों में माता-पिता, परिजन सबका परित्याग कर संन्यासी बन जाते हैं, वे अवश्य कायर हैं। संसार दुःखमय क्यों न हो, पर जो इन दुखों को सहन कर संसार में ही वास करते हैं, वे ही श्रेष्ठ हैं, वे ही वीर हैं।

राजा मन ही मन यह सब सोचते थे, पर कल्याणक को भी पता न लगने देते थे।

कल्याणक और विदयधर चलते रहे। चलते-चलते वे दूसरे राज्य में पहुँच गये। वहाँ उन्होंने देखा कि दूर से लोगों का एक झुण्ड चला आ रहा है, ढोल बजाते हुए, चीखते-चिल्लाते हुए। देखते ही देखते वे पास चले आये। उन्होंने ढोल बजाते हुए कहा, "राजमहल में आनेवाली पूर्णिमा को राजकुमारी आरुणिका का स्वयंवर होगा।"

इसके बाद वे सभी चले गये। कल्याणक ने कहा, "राजन, चलिए राजकुमारी का स्वयंवर देख आया जाए।"

विश्वधवर ने कहा, "चलिए।"

राजा एवं संन्यासी चलते-चलते पूर्णिमा के दिन सुबह को राजमहल में उपस्थित हुए। उन्होंने देखा कि कुसुम-पल्लव तोरणों से समस्त राजमार्ग शोभायमान था। शहनाई, बाँसुरी, ढोल और कितने ही वाद्य-यंत्र बज रहे थे। कितने घोड़े, हाथी, सिपाही-संतरी खड़े थे।

कुछ ही क्षणों में कल्याणक एवं विश्वधर राजसभा में उपस्थित हुए। नाना राज्य के विभिन्न राजकुमार स्वयंवर में बैठे हुए थे। उनकी वेश-भूषा एवं अलंकार की चकाचौंध से समस्त राज-सभा प्रकाशमान हो रही थी। सिंहासन पर राजा विराजमान थे। उनकी एकमात्र कन्या आरुणिका का स्वयंवर था।

थोड़ी ही देर में अन्तःपुर से शंखों का मंगल ध्वनि अनुगुंजित होने लगी। धीरे-धीरे राजकुमारी ने सभा में प्रवेश किया, साथ में सखियाँ चल रही थीं—हाथ में शंख, वरमाला लेकर। उन्हें देखकर लगा

जैसे परी-रानी परियों के साथ इन्द्र की सभा में प्रवेश कर रही हो। पुरोहित के मंत्रोच्चारण के साथ मधुर कण्ठों से मंगल-गीत निकलने लगे। उसके बाद राजा ने उठकर गंभीर स्वर में कहा, "मैं इन्द्र, वायु, वरुण, आदित्य, अग्नि, शिव एवं ब्राह्मण को साक्षी बनाकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि, मेरी एकमात्र पुत्री आरुणिका आज जिसे वरमाला दान करेगी, उसी के हाथों में अपनी पुत्री को सम्प्रदान करूँगा।"

सखियों ने मंगल-ध्वनि का उच्चारण किया। राज सभा में सभी की आँखें एक साथ आरुणिका पर पड़ीं। किसके भाग्य में आज वरमाला है?

धीरे-धीरे राजकुमारी ने चलना प्रारम्भ किया। राजकुमारों की हृदय-गति तीव्र होने लगी, क्या जाने राजकुमारी को कौन अच्छा लगे? राजपुत्रों के सामने से आरुणिका चली गयी। उनका सिर शर्म एवं दुःख से झुक गया। एक-एक कर सभी राजपुत्रों के सामने राजकुमारी गुजर गयी, कोई पसन्द न आया।

अलग-अलग कुमारियों के मन का भाव अलग होता है। कोई खूब विद्वान वर चाहती है, तो कोई वीर। किसी के मन में वीर पुरुष की इच्छा होती है तो किसी के मन में सुन्दर पुरुष की इच्छा होती है। आरुणिका के मन में इच्छा थी कि उसका पति भगवान् कार्तिक के सदृश ..न्दर हो।

इसके पहले भी दो बार आरुणिका का स्वयंवर आयोजित हुआ था परन्तु कोई आरुणिका को पसन्द नहीं आया था; राजा ने इस बार अनेक प्रयत्नों के बाद विशाल स्वयंवर का आयोजन किया था। अनेक दूर-दराज से राजपुत्र आये थे। आरुणिका जैसी सुन्दरी और कोई नहीं थी। इसलिए उसके लिए अनेक राजपुत्र आये थे। आरुणिका ने किसी को वरमाला नहीं पहनाई। राजा चिंतत हो गये। विषाद की काली छाया से समग्र राजसभा आच्छादित हो गयी।

अचानक सबने देखा कि राज सभा के एक कोने में युवक संन्यासी खड़ा है। क्या रूप है! जैसे पूर्णिमा के चाँद का प्रकाश हो। सबने अवाक् होकर देखा कि राजकुमारी धीरे-धीरे आगे बढ़ी जा रही है। आरुणिका ने उसे वरमाला पहना दी। सखियों ने शंखनाद किया। चारों ओर ढोल-नगाड़े, शहनाई-बाँसुरी बज उठे। संन्यासी ने स्वप्न में भी न सोचा था कि राजकुमारी उसे वरमाला पहनाएगी। उन्होंने राजकुमारी को माला लौटाते हुए कहा—।"तुमने भूल की है, मैं तो संन्यासी हूँ।"

राजा ने सोचा, "संन्यासी के पास कोई धन सम्पत्ति नहीं है। इसलिए वह विवाह से इंकार कर रहा है।" उन्होंने कहा," राजकुमारी को ग्रहण करने से आप क्यों कतरा रहे हैं? आरुणिका मेरी एकमात्र संतान है। मेरी मृत्यु के बाद इस विशाल राज्य में उत्तराधिकारी तुम ही होगे। अभी आरुणिका के साथ में तुम्हें आधा राज्य दे दूँगा।"

पिता की बातों से साहस पाकर आरुणिका ने पुनः संन्यासी को वर माला पहना दी। संन्यासी ने माला को तोड़कर जमीन पर पटक दिया एवं राजसभा को छोड़ चला गया। उसके रूप पर आरुणिका मुग्ध हो गयी थी। उसने कहा, "या तो मैं उसे पाकर रहूँगी, या फिर यहीं पर प्राण दे दूँगी।"

यह कहकर आरुणिका भी संन्यासी के पीछे-पीछे भाग चली। कल्याणक एवं विश्वधर सभा के दूसरे कोने में खड़े हो सब कुछ देख रहे थे। कल्याणक ने कहा, "राजन, चलिए हम भी इसके साथ चलते हैं।"

वे भी साथ-साथ निकल पड़े। इतने कम समय में यह सब हो गया कि राजा स्तब्ध रह गए, क्या किया जाय, कुछ समझ में न आया। इस प्रकार की घटना भी घट सकती है? कोई सोच भी नहीं सकता था। थोड़ी देर में राजा स्वाभाविक स्थित में लौटे। उन्होंने राजकुमारी के लिए आदमियों एवं सिपाहियों को भेजा। त.... ..यासी और राजकुमारी बहुत दूर चले गए थे।

संन्यासी शादी करने को राजी नहीं था। जब राजकुमारी ने संन्यासी को पसंद किया तब संन्यासी

के मन में यह विचार आया कि शायद जोर-जबरदस्ती से उसका विवाह करा दिया जाय, इसलिए वह भाग रहा था। जिसको एकबार पति स्वीकार कर लिया, उसे पाना ही है—यह सोचकर राजकुमारी दौड़ रही थी। राजकुमारी जन्म से ही सुखों के बीच पली थी, मिट्टी पर उसने कभी पैर न रखा था, वह भला कैसे एक पुरुष के साथ चल सकती? क्रमशः वह पीछे पड़ने लगी।

संन्यासी ने वन का मार्ग लिया। क्योंकि वन में भागना आसान था। पीछे-पीछे आरुणिका और उसके पीछे कल्याणक एवं विश्वधर। कुछ देर बाद संन्यासी और न दिखा। वन के मध्य वह कहीं छिप गया था। वन के सारे मार्गों से वह संन्यासी परिचित था। इसलिए वह कहीं छिप गया। उसे नायव पा आरुणिका चारों ओर खोजने लगी। आखिरकार जब वह नहीं मिला तो हताश हो एक वृक्ष के नीचे बैठकर वह रोने लगी। संध्या होनेवाली थी। राजकुमारी अपरिचित सघन वन से बाहर निकलने में असमर्थ थी।

कल्याणक एवं विश्वधर राजकुमारी के पास आये। उसकी अवस्था को देख उन्हें दया आयी।

कल्याणक ने कहा, "माँ, तुम्हें कोई डर नहीं है। इस देश के रास्तों-मार्गों से हम भी परिचित नहीं है। हम विदेशी हैं। इस अंधेरे में पथ पहचान कर वन के बाहर निकलना हमारे लिए भी संभव नहीं है, निरापद भी नहीं। तुम निर्भय हो, रात को यहीं रहो। हम दोनों तुम्हारी रक्षा करेंगे। कल सुबह हम तुम्हें तुम्हारे पिता के पास पहुँचा देंगे।"

आरुणिका के पैरों में असंख्य कांटे चुभ गये थे, शरीर भी छिल गया था एवं खून निकल रहा था। कुछ क्षणों के बाद वह दुःख एवं अवसाद के कारण जमीन पर ही सो गई। विश्वधर चुपचाप बैठ स्वयंवर के बारे में सोच रहे थे। कल्याणक मधुर स्वर में गा रहे थे—"भज मन राम चरण दिन राती।"

विश्वधर सोच रहे थे, "संन्यासी ने क्यों विवाह नहीं किया? राजकन्या के साथ-साथ आधा राज्य भी मिलता। फिर राजा का संपूर्ण राज्य ही उसका होता। परम् सुन्दरी राजकन्या मिलती। उसके मुख को देखकर यह नहीं लगता कि वह दुःख एवं भय से संसार त्याग कर संन्यासी बना है। संसार की जिस अवस्था को लोग सबसे बड़ा सुख मानते हैं—सुन्दरी राजकन्या, विशाल राज्य—सब कुछ पाकर भी उसने त्याग दिया।"

कल्याणक ने कहा, "राजन, मैं बचपन से पक्षियों को बड़ा प्यार करता था। बड़े मन से मैं सदा उनका गाना सुनता। आठ-दस वर्ष तक सुन-सुनकर मैं उनकी भाषा को सीख गया। पक्षी जो बोलते हैं, उसका भी कुछ अर्थ होता है। अवश्य ही पक्षी अधिक नहीं बोलते अल्प शब्दों में ही वे अपनी बातें कहते हैं। हम जिस वृक्ष के नीचे बैठे हैं, उसकी डाल पर एक घोसला है। घोसले में दो वृद्ध मादा एवं नर पक्षी तथा दो बच्चे हैं। दोनों वृद्ध एवं वृद्धा में बातें हो रही थी। वे सब अद्भुत हैं। सुनने पर आपको अवश्य आश्चर्य होगा।

विश्वधर "पक्षी की बातें" सुनकर अवाक् हो गये। कल्याणक कहने लगे, "उनकी बातों का आपको अनुवाद कर बताता हूँ। बूढ़ी से बूढ़े ने कहा सुन रही हो,?" बूढ़ी ने कहा, "क्या?"

—एक बार नीचे देखो ना।

—देख रही हूँ।

—क्या?

—तीन अतिथि हमारे घर आये हैं।

—हाँ, परन्तु क्या किया जाय?

—वही तो सोच रहा हूँ। जाड़े की रात है, इन्हें बड़ा कष्ट होगा।

—हम गृहस्थ हैं। गृहस्थ के लिए तो अतिथि नारायण होते हैं। तुम थोड़ी आग लाने की कोशिश करो।

—हाँ, तुमने ठीक कहा, है। मैं कोशिश करता हूँ, थोड़ी आग लाने की ताकि अतिथि-नारायण की सेवा कर सकूँ। तुम बच्चे को देखो।"

कल्याणक कहने लगे, "उसके बाद मैंने उड़ने की आवाज सुनी। लगता है, नरपक्षी आग लाने गया है।"

कल्याणक की बात समाप्त होते न होते ही वृक्ष से

एक लकड़ी गिरी। उसके एक सिरे में आग जल रही थी। देखकर विश्वधर स्तब्ध रह गये। कल्याणक ने बिल्कुल सत्य कहा है, इसमें पाक नहीं रहा। कल्याणक ने तुरंत कुछ और लकड़ियाँ संग्रहित की एवं उनको प्रज्वलित कर सभी जाड़े की रात में आराम अनुभव करने लगे।

थोड़ी ही देर में कल्याण चीत्कार कर उठे, "भगवान, उस पक्षी को बचाओ।"

साथ ही साथ एक पक्षी उस आग में गिर गया। कल्याणक एवं राजा ने उसे उठाया। परन्तु वह न बचा। उसके बाद एक और पक्षी और दोनों बच्चे आग में गिरकर मर गये। कल्याणक को अत्यंत दुख हुआ। राजा ने आश्चर्यचकित होकर पूछा, 'क्या हुआ?' "यह सब कैसे हुआ?"

एक दीर्घनिश्वास लेकर कल्याणक ने कहना प्रारंभ किया, "राजन मैं सोचता था कि संन्यास-धर्म एवं गृहस्थ-धर्म समान होने पर भी संसार धर्म से संन्यास कठिन है। परन्तु आज देखा कि गृहस्थों का धर्म भी कम कठिन नहीं। राजन् आप गृहस्थ हैं। पक्षियों के बारे में आप मुझसे ज्यादा अच्छी तरह समझ सकेंगे। हमारे लिए अग्नि प्रज्वलित कर भी नर पक्षी को तृप्ति न हुई। उसने अपनी स्त्री से कहा हमारे अतिथि हमारे घर भूखे रहें, यह नहीं हो सकता। गृहस्थ के लिए उचित है कि वह प्राण देकर भी अतिथि सेवा करे। मैं अपना शरीर अतिथि सेवा सेतु अर्पित करूँगा! तुम बच्चों को देखना।" यह कहकर वह नरपक्षी आग में कूद पड़ा। तब स्त्री ने बच्चों से कहा, "अतिथि तीन हैं एवं सिर्फ एक पक्षी से उनका पेट न भरेगा। स्त्री का कर्तव्य है कि स्वामी के धर्म में सहायता करे। मैं भी जा रही हूँ। ईश्वर तुम्हारी रक्षा करेगा।" इतना कहकर वह भी अग्नि में कूद पड़ी। तब बच्चों ने कहना शुरू किया, "अतिथि तीन हैं—दोपक्षी से उनका क्या होगा? हमारे लिए उचित यह है कि हम माँ-बाप के कार्य में सहायता करें। आओ हम भी अतिथि-सेवा के लिए अपना शरीर अर्पित करें। "यह कह, वे दोनों भी आग में कूद गये। उन्होंने सोचा था कि उन्हें भूनकर हम खाएँगे।"

यह सब घटना देख आरूणिका को भी आश्चर्य हुआ। उस रात कोई सो न सका। रात्रि के शेष में आरुणिका ने कल्याणक से कहा, "जिससे मैं विवाह करना चाहती थी, वे जब मुझे न मिले, जब उन्होंने मुझे त्यागकर चल दिया, तब मैं और जीना नहीं चाहती। आप अनुमति दीजिए, मैं भी पक्षियों की भाँति जीवन त्याग करूँ।"

कल्याणक ने कहा, "ऐसा नहीं करना चाहिए। वे संन्यासी थे, उन्हें वरमाला पहनाकर तुमने भूल की थी। उस पर आत्महत्या कर अपने ऊपर भूल का बोझ मत बढ़ाओ। पक्षियों ने तो भूल नहीं की थी। अतिथि-सेवा कर कोई और पथ न देख उन्होंने अपना शरीर त्यागा। स्त्री का कर्तव्य है, सर्वदा स्वामी के धर्म-कर्म में सहायता करें। इसलिए स्त्री का एक नाम है—सहधर्मिणी। यदि तुमने उसे सचमुच चाहा था, उसे पतिरूप में वरण किया था तो तुम्हारे लिए यही उचित होगा कि तुम उसकी सहायता करो, उसका अनिष्ट नहीं। तुम पिता के पास लौट जाओ, धर्म-सम्मत जीवन व्यतीत कर उसकी सेवा करो और ईश्वर से प्रार्थना करती रहो कि तुम्हारे पति का मंगल हो। तब ही तुम समझ सकोगी, माँ, कि तुमने सही काम किया है।"

देखते ही देखते भोर हो गयी। पूर्व में प्रभात रवि ने विचित्र शोभा धारण की। आरुणिका को साथ ले कल्याणक एवं विश्वधर ने उनको पिता तक पहुंचा दिया। आरुणिका एवं उसके पिता से विदा लेकर वे अपने देश की ओर चल पड़े।

कल्याणक ने कहा, "राजन्, धर्म-साधना के दो पथ हैं—गार्हस्थ्य एवं संन्यास। दोनों ही समान हैं। यथार्थ गृहस्थ एवं प्रकृत संन्यासी में कोई अंतर नहीं। मनुष्य अपनी-अपनी रुचि के अनुसार दोनों में से किसी पथ पर चलता है।"

विश्वधर ने कहा, "आपकी कृपा से मैंने समझ लिया कि गृहस्थ एवं संन्यासी समान हैं। कोई छोटा नहीं।"

कुछ दिन बाद वे विश्वधर के राज्य में पहुँच गये। कल्याणक तब राजा से विदाई लेकर दूसरे पथ पर चल पड़े। विश्वधर ने बहुत कोशिश की कि उन्हें राजमहल ले जाएं, परन्तु कलल्याणक राजी न हुए। उन्होंने हंसकर कहा, 'गृहस्थ और संन्यासी में भले ही कोई छोटा-बड़ा न हो, परन्तु उनके मार्ग अलग-अलग हैं। ●

वैद्यनाथ च्यवनप्राश
अब पोलीजार में
उपलब्ध
यौवन
विकास
दिमागी ताजगी
बलवर्द्धक
वैद्यनाथ
च्यवनप्राश
आदर्श आयुर्वेदिक
पारिवारिक टानिक
कहीं आपके डिब्बे में "मोपेड" तो नहीं ?
प्रत्येक एक किलो स्पेशल और साधारण एवं ५०० ग्राम स्पेशल च्यवनप्राश के डिब्बे में इनामी कूपन प्राप्त कर "मोपेड" एवं ३०५ अन्य पुरस्कार प्राप्त करने का सुनहरा अवसर ।
वैद्यनाथ ७०० से अधिक दवाएं पांच आधुनिक कारखानों में तैयार
श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड
वैद्यनाथ भवन रोड, पटना-१